सुखी होने का उपाय

भाग–5

नेमीचन्द पाटनी

सुखी होने का उपाय

भाग-5

(यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व की पर्यायमात्र से भेदविज्ञान एवं देशनालब्धि का अन्तिम चरण)

लेखक :

नेमीचंद पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

सुखी होने का उपाय भाग–5 : नेमीचन्द पाटनी

प्रथम दो संस्करण : 3,500
(10 जून, 1997 से अद्यतन)
तृतीय संस्करण : 500
(1 जनवरी, 2020)
योग : 4,000

मूल्य : तीस रुपये

श्री महेश जे. पारेख, मुम्बई
की ओर से 3,100/- रुपये प्रस्तुत प्रकाशन की
कीमत कम करने में प्राप्त हुये;
एतदर्थ आभार।

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलकनगर, जयपुर (राज.)

विषय-सूची

विषय	*पृष्ठ*
विषय-सूची	३
दो शब्द	७
अपनी बात	८
विषय परिचय	११
विषय प्रवेश	३६
पात्रता	४१
द्रव्य में पर्याय की स्थिति	
द्रव्य और पर्याय में अभिन्नता	४४
द्रव्य और पर्याय का क्षेत्र एक होते हुए भी भाव भिन्नता तो विद्यमान है	४६
भाव भिन्नता भी मात्र अशुद्ध जीव को ही होती है	४७
भाव भिन्नता समझने का लाभ क्या ?	४८
भाव भिन्नता का समझ ही भेद ज्ञान का आधार है	५०
भिन्नता समझने का मूल आधार कौन	५१
अपने ही आत्मा में विद्यमान दोनों स्वभावों का अध्ययन	५२
जिनका अस्तित्व ही अभिन्न है, उनको भिन्न कैसे किया जा सकेगा	५४
अभिन्न द्रव्य-पर्याय को भिन्न करना अशक्य, लेकिन भिन्न समझना शक्य है	५५
नयज्ञान की मोक्षमार्ग में उपयोगिता	
भिन्नता समझने के लिए नयज्ञान अत्यन्त आवश्यक है	५६
समझने के लिए नयज्ञान का प्रयोग क्यों ?	६०
नयज्ञान से आत्मा को कैसे समझा जा सकेगा ?	६४
निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग	६५
निश्चय-व्यवहार की उपयोगिता	६९
निश्चय-व्यवहार नयों की परिभाषाएँ	७१
आत्मोपलब्धि में नयज्ञान की उपयोगिता	७९
प्रमाण ज्ञान	८१

नयज्ञान	८५
स्वसंवेदन की प्रत्यक्षता, परोक्षता एवं मुख्यता	८६
नयज्ञान की परिभाषा	८९
प्रमाणज्ञान का विषय	८९
नयज्ञान के भेद	९१
द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय का प्रयोजन	९३
निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोजन	९५
द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक एवं निश्चय-व्यवहारनय में अन्तर	९७
नित्यानित्यात्मक आत्मवस्तु का स्वभाव	१०१
आत्मानुभूतिरूपी प्रयोजनसिद्धि में हेय-उपादेयता	१०२
निश्चयनय भूतार्थ एवं व्यवहार अभूतार्थ बताने का प्रयोजन	११६
व्यवहार नय अभूतार्थ ही है तो उसका उपदेश क्यों ?	१२०
अनेकांत व स्याद्वाद की मोक्षमार्ग में उपयोगिता	११३
समझने एवं प्रयोग में अनेकांत की अनिवार्यता	१२६
समझने में अनेकान्त की उपयोगिता किस प्रकार ?	१२८
आत्मोपलब्धि में उपयोगिता किस प्रकार ?	१२९
स्याद्वाद की उपयोगिता	१३१
ज्ञान-ज्ञेय एवं भेद-विज्ञान	
समझने की पद्धति का उद्देश्य, ध्येय और तात्पर्य आदि	
समझने का उद्देश्य क्या ?	१३१
भटकन समाप्त करने का श्रेय मात्र जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा	१३३
आत्मलाभ का मूल आधार भेद विज्ञान	१३५
भेद विज्ञान	१३७
भेद विज्ञान का मूल आधार	१३८
भेदविज्ञान की असफलता का कारण	१४०
अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान	१४५
आत्मस्वरूप को खोजने की विधि	१४५
भगवान अरहंत की आत्मा ही आदर्श क्यों ?	१४७
अपना स्वरूप समझने के लिए भगवान सिद्ध की आत्मा आदर्श कैसे	१५०
भगवान सिद्ध की पर्याय के द्वारा आत्मा के स्वभाव का परिचय	१५२
भगवान सिद्ध की पर्याय अनंतचतुष्टयरूप	१५४

अनन्त चतुष्टय प्रगट करने में ज्ञानोपयोग की मुख्यता	१५७
आत्मा की ज्ञान पर्याय का स्वरूप	१५९
सिद्ध भगवान से विपरीत संसारी जीव का ज्ञानोपयोग	१५९
अनन्त सुख की विपरीतता	१६१
अनन्त वीर्य की विपरीतता	१६४
भगवान सिद्ध की ज्ञान पर्याय स्वपरप्रकाशक एवं अनेकांत स्वभावी है	१६५
वस्तु मात्र का सामान्य स्वभाव अनेकांत	१६६
आत्मवस्तु अनेकांत स्वभावी	१६७
अनेकांत स्वभावी ज्ञान की ज्ञेयों को जानने की स्थिति	१७१
अनेकांत ज्ञान में ज्ञेयों की स्थिति	१७३
ज्ञेयों को जानने में अनेकांत की स्थिति	१७७
भगवान सिद्ध की पर्याय अनेकांत स्वभावी कैसे ?	१७८
अनेकांत और नय	१८०
अनेकांत स्वभावी ज्ञान मानने का फल सम्यक् एकान्त की उपलब्धि	१८१
यथार्थ समझ से ही आत्मोपलब्धि योग्य रुचि की उत्पत्ति	
यथार्थ समझ से रुचि परिवर्तन अवश्यंभावी	१८४
यथार्थ समझ की पहिचान क्या	१८७
मात्र वीतरागता को ही यथार्थ मोक्षमार्ग क्यों माना जावे ?	१९०
वीतरागता की पहिचान क्या ?	१९४
अनन्तानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता की पहिचान क्या ?	१९७
जिनवाणी के अध्ययन से मार्ग खोज निकालना असम्भव जैसा लगता है ?	२००
जिनवाणी में समझने योग्य विषय तो अनेक हैं हम किसे पहिचानें ?	२०१
द्रव्यों व तत्त्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानें	
जीवादि द्रव्यों व तत्त्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानना	२०३
नवतत्त्वों को स्व एवं पर के रूप में पहिचानना	२०४
जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व का अन्तर	२०४
जीवतत्त्व की स्व के रूप में पहिचान करना	२०६
जीवतत्त्व का स्वरूप	२०७
तत्त्वों का स्वरूप पहिचानना आवश्यक क्यों ?	२०९
आस्रवादि तत्त्वों की उत्पत्ति कैसे होती है ?	२११
आत्मा के तत्त्वों को संयोगी भाव कैसे कहा गया है ?	२१२

आस्रवादि तत्त्वों को पर कैसे माना जावे तथा क्यों माना जावे २१४
लेकिन जिनवाणी में तो अपनी सभी पर्यायों का कर्ता आत्मा को भी कहा है तथा पर्यायों को पर भी कहा है, वह कैसे? २१५
संवर निर्जरा व मोक्ष पर्याय तो निर्मल है, उनको भी पर क्यों माना जावे? २१७
उपरोक्त समस्त कथन का तात्पर्य २१८

देशनालब्धि की मर्यादा

समझ लेने मात्र से ही परिणति में परिवर्तन नहीं हो जाता? २२१
आगम तो अगाध है, उसमें से आत्मदर्शन करने की विधि कैसे समझी जावे २२३
द्वादशांग का सार, एकमात्र वीतरागता २२५
वीतरागता का स्वरूप क्या? २२६
आत्मा के स्वरूप को अस्ति की मुख्यता से समझने की प्रणाली २२७
देशनालब्धि की पूर्णता का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता २३१
सम्यक्त्व सन्मुख जीव को पांच लब्धियाँ एवं उनका स्वरूप २३३
सभी लब्धियों में आत्मरुचि का पृष्ट बल २३७
देशनालब्धि में पुरुषार्थ क्या होता है? २३९
देशनालब्धि का प्रारम्भ किसप्रकार? २४०
ज्ञानी उपदेशक को कैसे जाने? २३३
ज्ञानी उपदेशक को पहिचानने के बाह्य लक्षण क्या? २४३
आत्मार्थी की समझ की यथार्थता को कैसे पहिचानें? २४६
देशना का केन्द्रबिन्दु क्या हो? २४८
देशनालब्धि का निर्णय २५०
देशनालब्धि की मर्यादा एवं चरम दशा २५१
देशनालब्धि एवं प्रायोग्यलब्धि में अन्तर २५१
भेदपूर्वक किये गए कथन, मात्र अभेद को समझाने के लिए ही होते हैं २५४
अभेद-अखण्ड-एक ज्ञायक स्वभावी आत्मा की अभेदता समझने की विधि २५५
सन्दर्भ सूचि २५७

***

दो शब्द

आदरणीय नेमीचन्दजी पाटनी द्वारा लिखित "सुखी होने का उपाय" भाग-५ आपके हाथों में है। इसके पूर्व सन् १९९० में भाग-१, १९९१ में भाग-२, १९९२ में भाग-३ तथा १९९४ में भाग-४ प्रकाशित किये गये थे। भाग-१ में वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था, भाग-२ में आत्मा की अन्तरदशा एवं भेदविज्ञान, भाग-३ में आत्मज्ञता प्राप्त करने का उपाय यथार्थ निर्णय ही है तथा भाग-४ में यथार्थ निर्णय पूर्वक ज्ञातृतत्त्व से ज्ञेयतत्त्व का विभागीकरण विषय पर चर्चा की गई है। इसे समयसार गाथा १४४ के आधार पर लिखा गया है।

यह तो सर्व विदित ही है कि पाटनीजी ने आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का समागम पूरी श्रद्धा और लगन के साथ लगातार ४० वर्ष तक किया है। वे भाषा के पण्डित भले ही न हों, पर जैन तत्त्वज्ञान का मूल रहस्य उनकी पकड़ में पूरी तरह है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के काम में वे विगत पैंतीस वर्षों से नींव का पत्थर बनकर लगे हुए हैं; विगत ३०-३५ वर्षों से मेरा भी उनसे प्रतिदिन का घनिष्ठ सम्पर्क है। अत: उनकी अन्तर्भावना को मैं भली भाँति पहचानता हूँ।

अभिनन्दन पत्र भी न लेने की प्रतिज्ञाबद्ध श्री पाटनीजी ने यह कृति लेखक बनने की भावना से नहीं लिखी है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धि के लिए ही उनका यह प्रयास है; उनके इस प्रयास से समाज को सहज ही सम्यक् दिशाबोधक यह कृति प्राप्त हो गई है।

यह चारों भाग तो अपके समक्ष पहुँच ही चुके हैं, अब यह पाँचवां भाग भी आपके हाथों में हैं ही । इनके और भी भाग तैयार होंगे वे भी आपको शीघ्र ही प्राप्त होंगे। उनके भाव आप सब तक उनकी ही भाषा में हूबहू पहुँचें इस भावना से इनमें कुछ भी परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया है। अत: विद्वज्जन भाषा पर न जावें, अपितु उनके गहरे अनुभव का लाभ उठावें इसी अनुरोध के साथ—

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अपनी बात

प्रस्तुत पुस्तक "सुखी होने का उपाय" भाग-५ है। इसके पूर्व प्रथम भाग सन् १९९० में, द्वितीय भाग सन् १९९१ में, तृतीय भाग सन् १९९२ में तथा चतुर्थ भाग सन् १९९४ में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक लिखना प्रारम्भ करते समय ऐसा संकल्प था कि आत्मानुभूति तक का सम्पूर्ण विषय तीन भागों में पूर्ण हो जावे ; लेकिन लेखन प्रारम्भ करने के पश्चात् जैसे-जैसे विषय की गम्भीरता अनुभव में आती गई, उसीप्रकार उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता अनुभव हुई, अतः विषय बढ़ता ही गया। चतुर्थ भाग समाप्त करते समय ऐसा अनुमान था कि पाँचवें भाग में "यथार्थ निर्णय द्वारा सविकल्प आत्मज्ञान" एवं "सविकल्प आत्मज्ञान पूर्वक निर्विकल्प आत्मनुभूति" इसप्रकार सम्पूर्ण विषय का समावेश होकर इस विषय का समापन हो जायेगा ; लेकिन जब इस विषय को समयसार की गाथा १४४ के आधार पर लिखना प्रारम्भ किया, तो ऐसा लगा कि यह विषय तो अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत गम्भीर एवं सूक्ष्म भी है, इसलिए इस विषय पर गम्भीर चिंतनपूर्वक विस्तृत स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अतः सम्पूर्ण विषय को पंचम भाग में पूर्णकर समाप्त करने का आग्रह मैंने छोड़ दिया ; क्योंकि जो अत्यन्त आवश्यक महत्वपूर्ण विषय है और जिस पर चिन्तन मेरे स्वयं के लिए बहुत प्रयोजनभूत है, वही रह जाता ; जो कि मुझे इष्ट नहीं था। अतः अब मैंने संकल्प कर लिया है कि विषय को संकुचित नहीं करके विषय की विस्तार से चर्चा की जावे, ताकि विषय स्पष्ट हो सके और भागों की संख्या का भी विकल्प छोड़कर जैसे-जैसे प्रकरण तैयार होता जावे, उसे अगले भाग के रूप में प्रकाशित कर दिया जावे। इसही के फलस्वरूप इस भाग में सविकल्प आत्मानुभूति प्राप्त करने तक का विषय पूर्ण करना था लेकिन वह भी पूर्ण नहीं हो सका, अतः निर्विकल्पदशा प्राप्त करने योग्य सविकल्प आत्मानुभूति का विषय भाग-६ में आवेगा।

मैंने उक्त सभी रचनाएँ मात्र स्वयं के कल्याण के लिए अपने उपयोग को सूक्ष्म एवं एकाग्र कर जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से की है। किसी भी विषय पर कुछ भी लिखने की जिम्मेदारी के आधार पर जितनी गूढ़तापूर्वक चिन्तन होता है, उतना अन्य माध्यमों से नहीं हो पाता है। विषय समझ में आ जाने पर भी उसको संकुचित करके अस्पष्ट छोड़ देने के

लिए मेरी आत्मा सहमत नहीं थी। साथ ही जितना भी विस्तार होगा, मेरा उपयोग भी उतने काल तक जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों के चिन्तन-मनन में ही लगा रहेगा और यह मेरे जीवन की महान उपलब्धि होगी, इसलिए मैंने विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण करने का संकल्प कर लिया है। अतः यह विषय आगामी कितने भागों में पूर्ण होगा, यह अभी निर्णय नहीं हो सकता।

उपरोक्त सभी रचनाओं में पुनरावृत्ति बहुत हुई है, क्योंकि ये रचनाएँ अलग-अलग समयों पर जब भी उपयोग खाली हुआ टुकड़ों- टुकड़ों में की गईं हैं, लगातार नहीं। मुझे भाषा एवं व्याकरण का ज्ञान अधिक नहीं होने से वाक्य-विन्यास तथा वाक्यों का जोड़-तोड़ भी सही नहीं है। अतः पाठकगणों को उपरोक्त सभी पुस्तकों में इसप्रकार की कमी अनुभव में आयेगी, सम्भव है पढ़ने में रुचिकर भी नहीं लगे, इसके लिए पाठकगण क्षमा करें। कृपया इन कमियों को गौण करके विषय के भाव को ग्रहण करने की चेष्टा करें— यही मेरी नम्र प्रार्थना है। अध्यात्म के कथन तो भावना दृढ़ करने के लिए होते हैं, अतः उसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं मानना चाहिए।

इसही पुस्तक के विषय प्रवेश में चारों भागों के विषयों का संक्षेप में ज्ञान कराते हुए इस पाँचवें भाग का भी संक्षिप्त सार भी दिया गया है। कृपया वहाँ से जान लेवें।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणियों को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त करने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादिकाल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिए दर-दर की ठोकरें खाता फिरता था, सभी अपने चिंतन को ही सच्चा मार्ग कहते थे ; लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शान्ति प्राप्त करने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ सन् १९४३ में मुझे प्रातः स्मरणीय महान उपकारी गुरुदेव पूज्यश्री कानजीस्वामी का समागम प्राप्त हो गया ; कुछ वर्षों तक तो उनके बताये मार्ग पर भी पूर्ण निशंकता प्राप्त नहीं हुई, तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सभी तरह से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा की शान्ति प्राप्त करने का यदि कोई मार्ग हो सकता है तो एक यही मार्ग हो सकता है, अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता— ऐसे विश्वास एवं पूर्ण समर्पणता के साथ उनके सत्समागम का पूरा-पूरा लाभ

उठाने का प्रयत्न करता रहा। फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ, वह सबका-सब अकेले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का ही है।

वे तो सद्ज्ञान के भण्डार थे, आत्मानुभवी महापुरुष थे। उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन, गम्भीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था, उसमें अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो, तो वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है और जो कुछ भी यथार्थ है, वह सब पूज्य स्वामीजी की ही देन है। उनकी उपस्थिति में भी एवं स्वर्गवास के पश्चात् भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता रहा हूँ, उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था, उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिए दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा ही प्राप्त हुई है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिए हम तो बिल्कुल अन्धे थे। अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है, जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या अनेक भवों में भी नहीं भूल सकेगा तथा मेरी धर्ममाता श्री चम्पा बहिन एवं श्री शांता बहिन का भी उपकार नहीं भूल सकता। जब-जब किसी विषय के स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती, उनके मार्गदर्शन से मेरा मार्ग सरल हो जाता था। अतः उनका भी असीम उपकार रहा।

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ, उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत करने यह अन्तिम प्रयास है। मेरी उम्र ८४ वर्ष की है और इस कृति का जो भाग शेष है वह भी मेरे जीवनकाल में सम्पूर्ण तैयार हो और प्रकाशित होकर आत्मार्थी बन्धुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मार्ग सुगमता से प्राप्त करावे— यही भावना है।

प्रस्तुत पुस्तक आत्मार्थी जीवों को यथार्थ मार्ग प्राप्त करने में कारण बने तथा मेरा उपयोग जीवन के अन्तिम क्षण तक भी जिनवाणी की शरण में ही बना रहे एवं उपर्युक्त यथार्थ मार्ग मेरे आत्मा में सदा जयवंत रहे— इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

— नेमीचन्द पाटनी

विषय परिचय

सुखी होने का उपाय एकमात्र आत्मानुभूति ही है। आत्मानुभूति कहो अथवा सुखानुभूति कहो, दोनों एकार्थवाची हैं। अनुभूति अर्थात् वेदन के ही दो नाम हैं। अपने आत्मा के उपयोग का सारे जगत से लक्ष्य हटकर, एकमात्र स्वआत्मा में एकाग्र हो जाना; लीन हो जाना ही आत्मानुभूति है। वह उपयोग अन्य गुणों को भी अपने साथ लेकर ही आत्मा में जाता है - अकेला नहीं जाता, इस ही को आगम में परिणति कहा जाता है। आत्मा में लीन हो जाने पर, उपयोग परिवर्तन - ज्ञप्ति परिवर्तन का अवकाश ही नहीं रहता। फलतः निराकुल आनंद का वेदन प्रगट हो जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने का उपाय ही वास्तविक 'सुखी होने का उपाय' है। उक्त स्थिति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप एवं पर के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होकर, परिणति को आत्मा में अभेद होने का मार्ग समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस ही श्रृंखला में 'सुखी होने का उपाय' पुस्तक का लेखन प्रारंभ हुआ है।

भाग - १ का विषय

इसके प्रथम भाग के द्वारा विश्व की व्यवस्था अर्थात् छह द्रव्यों की स्थिति एवं उनके साथ आत्मा का संबंध किसप्रकार है, इस विषय को समझा। उन सबमें, आत्मा ही एक जानने वाला द्रव्य है, अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा स्व और पर को जानता है। अन्य पांचों द्रव्य तो अचेतन हैं वे न तो अपने को जानते हैं और न पर को ही जानते हैं, फिर भी उन सबका परिणमन तो हर समय, एकसाथ होता ही रहता है। अतः किन्हीं दो द्रव्यों का एक सरीखा परिणमन होना भी स्वाभाविक है। ऐसे परिणमन के संबंध को बतलाने वाले संबंध को आगम में निमित्त-नैमित्तिक

संबंध के नाम से बताया गया है। पाँच समवायों के माध्यम से एवं यथार्थ कार्य-कारण व्यवस्था के द्वारा, ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंधों के स्वरूप को उपरोक्त भाग के द्वारा समझा। विपरीत समझ के कारण उनके संबंध में उठने वाली अनेक शंकाओं का निराकरण भी उक्त पुस्तक के माध्यम से समझा। इसप्रकार उक्त भाग-१ के माध्यम से छह द्रव्यों से आत्मा की भिन्नता समझकर आपस में कर्ता-कर्म संबंध मानने वाली भूल के निराकरण करने की पद्धति को भी समझा। इसप्रकार छह द्रव्यों में खोई हुई अपनी आत्मा को उन अनन्त द्रव्यों से भिन्न समझकर, अपने स्वतंत्र अस्तित्व की श्रद्धा जाग्रत की।

निष्कर्ष यह है कि विश्व के छहों द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों को अपने में स्वतंत्र रूप से करते ही रहते हैं। किसीका कार्य कभी रुकता नहीं है तथा कोई अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य की पर्याय में कुछ कर सकता भी नहीं। फिर भी मेरी आत्मा का उपयोग, अपनी आत्मा को छोड़कर उनकी ओर चला जाता है, यह तो निरर्थक ही सिद्ध होता है, मात्र उससे मुझे आकुलता ही प्राप्त होती है।

मैं तो उन सभी के परिणमनों पर्यायों से भिन्न रहते हुए, मात्र उनको जान ही सकता हूँ लेकिन उनमें कर कुछ भी नहीं सकता। इस प्रकार की श्रद्धा से मेरे उपयोग को अत्यन्त निर्भार होकर, पर की ओर जाने का उत्साह ही टूट जाता है और मेरी परिणति उनसे उपेक्षित होकर अपने-आप में सिमटने की चेष्टा करने लगती है।

भाग - २ का विषय

भाग-२ के माध्यम से मोक्षमार्ग में पाँच लब्धियों की अनिवार्यता, उनमें देशनालब्धि का यथार्थ स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता आदि के साथ-साथ चारों अनुयोगों का अभ्यास करने की पद्धति आदि विषयों को समझा। सारे द्वादशांग के सारभूत अपने आत्मतत्त्व की यथार्थ पहिचान करने के लिए, सातों तत्त्वों का, द्रव्यकर्म, भावकर्म के संबंध सहित, हेय,

ज्ञेय, उपादेय की मुख्यता से स्वरूप भी समझा। सभी तत्त्वों में प्रयोजन भूत एक स्वजीवतत्त्व ज्ञायकतत्त्व, परम-परिणामिकभाव को, खोज कर निकालने का मुख्य उपाय नयज्ञान, इसके स्वरूप को आगम अध्यात्म के विभागीकरण पूर्वक समझा। निश्चय-व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को भी समझकर उसकी मोक्षमार्ग में उपयोगिता एवं अनिवार्यता को भी समझा। सारी समझ का सारभूत, अपने स्वतत्त्व अर्थात् ज्ञायकतत्त्व में, अपनापन स्थापन करने के पुरुषार्थ का स्वरूप भी समझा।

छह द्रव्यों की विशाल भीड़ में अर्थात् लोक में, अनादि से हमारी आत्मा खोई हुई थी, उसको हमने भाग-१ के अध्ययन के माध्यम से खोजकर अलग कर लिया, और ऐसा विश्वास जाग्रत हो गया कि जगत में अनंत द्रव्य हैं, उन सबसे भिन्न, "मैं अपने आपका स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला जीवद्रव्य हूँ। मेरा स्वभाव तो ज्ञान है। ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के द्वारा, उन सभी द्रव्यों के हर समय होने वाले, बदलने वाले परिणमनों को मात्र जानने वाला ही हूँ। किसी में कुछ भी परिवर्तन, हस्तक्षेप आदि नहीं कर सकता। मेरे ज्ञान में उन द्रव्यों के परिणमन ज्ञात होने पर, मेरी कर्ता बुद्धि के कारण मुझे भ्रम से ऐसा लगता था, जैसे मैंने उनको परिणमा दिया हो ? अब यथार्थ समझ के द्वारा मैंने उस भूल को भी दूर कर दिया। अतः मुझे ऐसा विश्वास जाग्रत हो गया कि मेरे को कुछ भी करना नहीं रहा। अतः सबसे उपेक्षित रहकर, मेरे उपयोग को, मेरे आत्मद्रव्य में ही सीमित कर, आत्मा को सुख का वेदन प्राप्त करने का उपाय ही करना चाहिए। इसप्रकार पर की चिंताओं से मुक्त होकर-निर्भार होकर, अपने आत्मा को अपने-आप में समेट लेने का, आत्मार्थी महापुरुषार्थ जाग्रत करता है।

उपरोक्त स्थिति प्राप्त आत्मार्थी को अब अनुसंधान करने का क्षेत्र, सीमित होकर अकेला अपना आत्मद्रव्य ही रह जाता है। अतः जब वह अपने अन्दर खोज करता है, तो उसमें क्षण-क्षण में बदलजाने वाले अनेक

प्रकार के भाव ही अनुभव में आते हैं? अलग आत्मा का अस्तित्व तो कहीं दिखता ही नहीं है? उक्त समस्या को सुलझाने के उपायों का वर्णन भाग-२ में है। उसके अध्ययन के माध्यम से नवतत्त्वों के स्वरूप को समझकर, उनकी भीड़-भाड़ में छिपे हुए हमारे ज्ञायकतत्त्व को पहिचान लेने की विधि को भी, उक्त भाग-२ के माध्यम से समझा। मेरा जीव-द्रव्य स्वयं नित्य-ध्रुवद्रव्य होते हुए भी, उसमें हर समय परिणमन भी होते ही हैं अर्थात् मेरे जीवद्रव्य का अस्तित्व ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावी है। वह तो स्थाई नित्य रहते हुए भी, हर समय परिवर्तन करेगा ही, वह एकरूप रह ही नहीं सकता। अत: मेरी ऐसी स्थिति में, परिवर्तन करती हुई पर्यायों के पीछे छिपा हुआ, जो ध्रुव-नित्य-एकरूप रहने वाला स्थाई भाव है, वह ही मैं जीवतत्त्व हूँ। नयज्ञान के माध्यम से पर्यायों को गौण करके, स्थाईभाव को मुख्य करके, देखने पर, अनादिकाल से जो हमारी दृष्टि से ओझल हो रहा था, पर्यायों की भीड़ के पीछे छिपा हुआ था, उस जीवतत्त्व की पहिचान हो जाती है। इसप्रकार हमने हमारे नित्य स्थाई ज्ञायकतत्व को, यथार्थ समझ के द्वारा, स्व के रूप में निश्चित कर स्वीकार कर लिया। उसके साथ ही निरन्तर वर्तने वाली पर्यायों को भी पर के रूप में समझकर स्वीकार कर लिया। इसप्रकार की यथार्थ समझ प्राप्त होने पर, मुझे श्रद्धा अर्थात् विश्वास हो गया कि मेरे ही अन्दर उठने वाले अनित्यभाव, मेरी आत्मोपलब्धि के लिये हेयतत्त्व हैं और इन स्वभावों के परिवर्तनों के समय भी, उपादेय तो मात्र एक मेरा ज्ञायकतत्त्व ही है, वही इनका जाननेवाला भी है, वही मैं हूँ। इस आत्मा ने भाग-१ के माध्यम से छहद्रव्यों में अपनापन दूर कर, एकमात्र अपने जीवद्रव्य में ही, अपनापन स्थापन करके, सारे विश्व के साथ सभी प्रकार का संबंध तोड़ दिया था। भाग-२ के अध्ययन से अपने जीवद्रव्य में भी, अपनी ही पर्यायों में, परपना आ जाने से, हेयबुद्धि कर, मात्र अपना ज्ञायकतत्त्व ही स्व के रूप में रह जाता है और वही उपादेय है। अत: अब तो मात्र

एक ही कर्तव्य रहता है कि इन पर्यायों के बीच में रहता हुआ भी, आत्मा पूर्ण सुखी कैसे होवे? इसी का उपाय समझने का पुरुषार्थ आत्मार्थी को बाकी रह जाता है। इन उपायों का वर्णन इस पुस्तक के आगामी भागों में किया गया है।

दोनों भागों के अध्ययन से उपलब्धि

उपरोक्त आत्मार्थी ने सारे जगत् से अपनापन तोड़कर एकमात्र अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा में अपनापन स्थापन कर लिया। तथा अपने आत्मद्रव्य में भी त्रिकाली ज्ञायक ऐसे जीवतत्व का यथार्थ स्वरूप समझकर उसमें स्वज्ञेय के रूप में अपनापन स्थापन कर लिया। तथा साथ में ही वर्तनेवाली आस्रव बंधादि पर्यायों के स्वरूप को समझकर, परज्ञेय मानकर, उनमें परपना स्वीकार कर लेने पर भी वे मोक्षमार्ग में साधक नहीं हैं, ऐसा भी स्वीकार हो गया, लेकिन जब तक इन सबसे लक्ष्य हटकर, एकमात्र स्वजीवतत्त्व-ज्ञायकतत्त्व में मेरा उपयोग जाकर विश्राम नहीं करे, तब तक मुझे आत्मोपलब्धि अर्थात् आनंदानुभूति तो नहीं होती? अत: उस मार्ग की खोज करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील होता है।

पुरुषार्थ की विपरीतता

ऐसा आत्मार्थी, जब एकांत में बैठकर, उपरोक्त प्रकार के विचारों द्वारा आत्मानुभव करने का प्रयास करता है, तब आत्मा में तो उपयोग नहीं जाता, लेकिन उससे विपरीत, जिनको मैंने मिथ्याबुद्धि से आत्मानुभूति का उपाय मान लिया था, ऐसे उपरोक्त प्रकार के विकल्पों में ही उलझ कर रह जाता है। निराकुलता के स्थान पर आकुलता का उत्पादन करता है। आत्मानुभूति से तो दूर हो गया हो — ऐसा लगता है। ऐसा आत्मार्थी अब वास्तव में आत्मानुभूति प्राप्त करना चाहता है अब इसलिए उसने मार्ग समझने में जो भूल की है, वह समझने का प्रयास करता है।

उपरोक्त प्रकार के विचारों द्वारा, आत्मा प्राप्त करने की मान्यता से तो कर्ताबुद्धि का ही पोषण हुआ। विचारों की व्यग्रता करने का ही अभिप्राय रहा। यथार्थ समझ के द्वारा यथार्थ श्रद्धा जाग्रत होने से तो कर्ताबुद्धि के अभावपूर्वक करने-धरने का उत्साह भी विसर्जन हो जाता है और आत्मा निर्भार होकर उपयोग में सिमट जाने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है।

आत्मा का स्वभाव तो अकर्ता था, लेकिन इसने आत्मा को कर्ता स्वभावी मान लिया। कर्तापने और ज्ञातापने में अत्यन्त विपरीतता है। ज्ञाता कभी कर्ता नहीं हो सकता और कर्ता कभी ज्ञाता नहीं हो सकता? आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक, अकर्ता ही है। इसका प्रमाण भगवान अरहंत का आत्मा है। अतः उपरोक्त प्रकार की विपरीत मान्यता से आत्मानुभूति प्राप्त करने के समस्त प्रयास निष्फल ही रहते हैं। आत्मा का उपयोग तो मात्र जानने के स्वभाव वाला है, अज्ञानी उसको करने के स्वभाव वाला मानकर, उसको आज्ञा करता है कि तू आत्मा में जा? अतः उसकी आज्ञा कैसे सफल हो सकेगी?

भाग-३ का विषय

इसप्रकार की भूल निकालने के लिये आत्मा का यथार्थ स्वरूप विस्तार से समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इस पुस्तक के भाग-३ में इस ही का वर्णन है। भगवान अरहंत की आत्मा को आदर्श रूप में रखकर अर्थात् उदाहरण बनाकर प्रवचनसार की गाथा ८० के माध्यम से, अपने आत्मा के स्वरूप को शुद्ध १०० टंच के सुवर्ण के द्रष्टान्त के आधार से समझने का प्रयास किया गया है। भगवान अरहंत की आत्मा वर्तमान पर्याय में जैसी व्यक्त हो गई है वैसा ही मेरा भी स्वभाव है, अंतर नहीं है। वास्तव में मेरा भी स्वभाव तो शुद्ध स्वर्ण के समान सदैव उनके जैसा ही है, लेकिन वर्तमान पर्याय की व्यक्तता में ही अन्तर है। उनकी आत्मा वर्तमान में ही ज्ञायकता में परिपूर्ण है। जानने योग्य पदार्थ जितना

जो कुछ भी है उस सबको एक समय मात्र में ही जान रहे हैं। लेकिन सबको जानते हुए भी, अपनी स्वयं की एवं पर की पर्याय में, कुछ भी कर नहीं सकते, अन्य की तो बात ही क्या? केवलज्ञान के साथ ही उनमें तो अनन्तबल प्रगट हो गया, फिर अरहंत भगवान अपनी ही अघातिया कर्मों से संबंधित प्रकृतियों का अभाव करके, मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं कर लेते? जब वे अपनी ही पर्याय में कुछ नहीं कर सके तो, मेरा आत्मा, अन्य की पर्याय में कुछ भी कर सकेगा, ऐसा मानना कितना बड़ा अज्ञान है। भगवान अरहंत की आत्मा के दृष्टान्त के द्वारा, कर्ताबुद्धि का अभाव होकर ज्ञाताबुद्धि उत्पन्न करने का महान पुरुषार्थ जाग्रत होता है। इसप्रकार की श्रद्धा जाग्रत हो जाने पर भी हमारे ज्ञान में परपदार्थ तथा हमारी पर्यायें भी ज्ञेय के रूप में ज्ञात होंगी। अतः उन ज्ञेयों से, ज्ञायकस्वभावी त्रिकाली तत्त्व का, भेदज्ञान उत्पन्न करने के लिये, द्रव्यार्थिक - पर्यायर्थिक नयों का यथार्थ स्वरूप समझना अत्यन्त उपयोगी है। उसको समझकर, द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत स्वज्ञेयतत्त्व त्रिकाली ज्ञायकभाव में, अहंपना स्थापन करके, उसमें ही उपयोग को एकत्व करने का पुरुषार्थ यथार्थ है, अतः पर्यायार्थिकनय के विषयभूत जो भी हों, पर्याय हों, द्रव्य हों, गुण हों, अथवा अन्य कोई भी हों, सभी में परपना मानकर उसकी ओर से उपेक्षित बुद्धि उत्पन्न करना मुख्य कर्तव्य है। उन सब उपायों की चर्चा इस भाग-३ में की गई है। इस ही का विस्तार, 'द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टि एवं पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' के रूप में जिनवाणी में आया है।

उक्त प्रकार के पुरुषार्थ के लिये मात्र अतीन्द्रिय ज्ञान ही उपयोगी है, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान का विषय तो पर ही होता है, इन्द्रिय ज्ञान में मनजनित ज्ञान भी सम्मिलित है। अतः एकमात्र अतीन्द्रिय ज्ञान ही निराकुलता का जनक व उपादेय है। इन्द्रियज्ञान तो आकुलता का उत्पादक होने से हेय ही है। इस विषय पर भी सांगोपांग विवेचन उक्त भाग-३ में किया गया है। आत्मा को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी एक समय में ही अपनी परिणति में, आंशिक वीतरागता एवं आंशिक

सरागता दोनों प्रकार के भाव एकसाथ वर्तते हैं, तथा उनका ज्ञान भी आत्मा को हर समय वर्तता है। अतः उनमें से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है और साथ में रहते हुए भी सरागीभाव यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है। इस विषय की चर्चा भी भाग-३ में की गई है।

इसप्रकार उपरोक्त विवेचन के माध्यम से आत्मार्थी यथार्थ निर्णय पर पहुँच जाता है कि मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ — ज्ञान में जो भी ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उनके संबंध में यथार्थ समझ के द्वारा परपने की मान्यता सहित उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न करके, एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव में अपने उपयोग को एकमेक कर लेने का पुरुषार्थ ही यथार्थ मार्ग है, वीतरागी मार्ग है अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग है। लेकिन जबतक उपयोग पूर्णरूप से स्व में लीन नहीं हो जावे, तब तक यथोचित भूमिका के अनुसार शुभभाव भी रहते तो हैं लेकिन वे रागभाव होने से यथार्थ मोक्षमार्ग तो हो नहीं सकते, फिर भी उनको सहचारी देखकर व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा गया है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार कथन से नयों का तथा परिणति का स्वरूप क्या है व आत्मार्थी को उनको मोक्षमार्ग के लिए समझना अनिवार्य किसप्रकार है, इस विषय की चर्चा भी भाग-३ में की गई है।

इसप्रकार उपरोक्त विषयों को समझकर, आत्मार्थी उनके द्वारा यथार्थ निश्चय मोक्षमार्ग एवं अयथार्थ ऐसे व्यवहार मोक्षमार्ग के स्वरूप का निर्णय करके फिर अपने अंतर में उसका प्रयोग करने के लिये उद्यत होता है।

भाग-४ का विषय

उपरोक्त समस्या का समाधान भाग-४ में किया जाता है। वास्तव में आत्मार्थी को इस पुस्तक के ३ भागों के अध्ययन द्वारा मोक्षमार्ग का स्वरूप तो स्पष्ट हो ही गया है तथा साथ ही रुचि का वेग भी सब तरफ से हटकर, मात्र एक आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये, अंदर में उछालें मार रहा होता है। ऐसे आत्मार्थी की अन्तर्दशा ऐसी हो जाती है कि "काम

एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग" उसने अपने जीवन का लक्ष्य मात्र एक आत्मोपलब्धि ही बना लिया है। सांसारिक सभी प्रकार की समस्याओं के लिये, वह अपने को अकर्मण्य मानने लगता है। भगवान अमृतचन्द्र की निम्न पंक्ति को चरितार्थ कर लेता है कि-"अयिकथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्" अर्थात् एक बार मरकर भी तू अपने आत्मा के दर्शन तो कर ? ऐसी अन्तर्स्थिति प्राप्त आत्मार्थी को यथार्थ मार्ग आगामी भागों से प्राप्त होगा।

भाग-४ का मुख्य विषस समयसार की गाथा १४४ की टीका के आधार पर आत्मा के ज्ञानस्वभाव को समझना है। उक्त ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, वह ज्ञेयों का ज्ञान किसप्रकार से करता है, जिससे मोह रागादि भाव उत्पन्न नहीं होते। इस विषय को विस्तार से समझने के लिये, प्रवचनसार ग्रन्थ के अध्ययनपूर्वक, ज्ञानस्वभाव एवं ज्ञेयस्वभाव तथा उसको जानने की पद्धति को समझने का प्रयास भाग-४ में किया गया है। प्रवचनसार के अधिकारों के नामों से ही उनके विषयों का परिचय हो जाता है। अधिकारों के नाम हैं - ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन एवं ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन तथा चरणानुयोग सूचक चूलिका। इस ग्रंथराज में उपरोक्त तीनों विषयों पर गंभीरतापूर्वक विस्तार से चर्चा की गई है।

जिसका अवलम्बन लेने का आचार्य श्री ने संकेत किया है, उस द्रव्य श्रुत की महिमा क्या है तथा उसमें आत्मा ज्ञानस्वभावी है ऐसा कैसे निर्णय करना इत्यादि विषयों पर चर्चा भाग-४ में की गई है। समस्त द्वादशांग का सार तो अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान कराने का ही है।

अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहिचानकर उसमें अपनापन स्थापन करना तथा ज्ञेयों के स्वभावों को जानकर उनमें परपना स्थापन कर, ज्ञेयों की ओर से अपने उपयोग को उपेक्षित कर आत्मसन्मुख करना, यही भेदज्ञान का मूल आधार है। अतः ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में आत्मा का स्वभाव

क्या है एवं ज्ञान की जानने की क्रिया किसप्रकार होती है, इस पर चर्चा है। भाग-४ में इन विषयों पर चर्चा की गई है।

ज्ञातृतत्त्व का स्वरूप समझाने के लिये शुद्धोपयोग परिणत भगवान अरहंत के ज्ञान के स्वरूप की विस्तार से चर्चा है। क्योंकि स्वभाव तो सभी आत्माओं का अरहंत समान ही है तथा जानन क्रिया का स्वभाव भी समान है। अरहंत की जानन क्रिया ही ऐसी है कि लोकालोक के समस्त ज्ञेयों को जानते हुए भी उनको मोह रागादि उत्पन्न नहीं होते। अत: अरहंत के प्रकट ज्ञान को जानने से हमको, हमारे स्वभाव का ज्ञान हो जाता है और ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि उनके जैसी हमारी भी जाननक्रिया का परिणमन हो तो, हमको भी मोह रागादि उत्पन्न नहीं हो सकते। ऐसे मार्ग का स्पष्ट ज्ञान होने से, आत्मा को करने योग्य पुरुषार्थ का भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

यथार्थत: आत्मा का प्रयोजन तो एकमात्र सुख प्राप्त करना है, अत: आत्मा को वह सुख कैसे प्राप्त होगा? उस मार्ग को समझना एवं तदनुसार पुरुषार्थ कर, वह सुख प्राप्त करना ही, एकमात्र कर्तव्य रह जाता है।

अपने आत्मा का स्वरूप एवं उसकी कार्यप्रणाली का यथार्थ स्वरूप समझने से ही उपरोक्त प्रयोजन की प्राप्ति हो सकती है। आत्मा का स्वरूप कहो अथवा स्वभाव कहो अथवा सर्वस्व कहो, जो कुछ भी कहो, ज्ञान ही है। अर्थात् आत्मा तो ज्ञानस्वभावी ही है, ज्ञान का कार्य तो जानना ही है और ज्ञान आत्मा का है, अत: अपने आत्मा को जानता रहे, यह तो उसका कर्तत्त्व ही है। लेकिन यह अपने आपको जानने के साथ पर को भी जान लेता है- यह विशेषता है। जानने की यथार्थ प्रक्रिया का फल मोक्ष है और उसकी भूल से ही संसार मार्ग उत्पन्न हो जाता है। अगर पर को जानने की सामर्थ्य ही आत्मा में नहीं होती, तो अन्य द्रव्यों की तरह आत्मा में भी विकार, उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं रहता।

लेकिन ऐसा होना संभव ही नहीं हैं, वस्तुस्वभाव तो बदल नहीं सकता। उक्त चर्चा का निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिये आत्मा का स्वभाव एवं जानन क्रिया की वास्तविक प्रणाली का यथार्थ स्वरूप समझना, अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

उपरोक्त समस्या का समाधान प्रवचनसार के प्रथम अधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन से प्राप्त होता है। इस पर भी चर्चा भाग-४ में की गई है। आचार्यश्री ने उक्त अधिकार को शुद्धोपयोग, ज्ञान, सुख एवं शुभभाव के रूप में चार अर्न्तअधिकारों के द्वारा उक्त विषय का सांगोपांग विवेचन किया है। आचार्यश्री ने शुद्धोपयोग के द्वारा ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त, आत्मा को आदर्श रूप में रखकर, आत्मा के सुख का परिचय, आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये कराया है। इसप्रकार इस अधिकार में आचार्य श्री ने हमारी समस्या का पूर्ण समाधान दे दिया है।

आत्मा की जानन क्रिया का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी वास्तविक कार्य प्रणाली में विकार उत्पत्ति का अवकाश ही नहीं रहता। आत्मा के ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक होते हुए भी, जानने की क्रिया तो उसकी पर्याय में, अर्थात् आत्मा के ही प्रदेशों में ही तो होती है। आत्मा का ज्ञान, स्वलक्ष्यपूर्वक अपने स्वामी को तो अपने में ही रहकर जान लेता है। लेकिन पर को जानने के लिये अपने को छोड़कर आत्मा परज्ञेय तक जाता नहीं तथा परज्ञेय भी अपने स्थान को छोड़कर उस ज्ञान के पास आते नहीं; लेकिन जानना तो हो ही जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा के ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा अचिंत्य एवं अद्भुत है कि अपने-आप में ही रहते हुए, अपने से अत्यंत भिन्न, ऐसे ज्ञेयतत्त्वों को अपनी सामर्थ्य से जान लेता है। यह सामर्थ्य तो ज्ञान में है, ज्ञेय का तो इसमें कोई प्रकार का भी योगदान नहीं है। इतना अवश्य है कि सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से प्रमेयत्व गुण विद्यमान हैं। अत: उनमें से किसी को भी, जब भी, जो भी तथा एक साथ अनेकों का ज्ञान भी, जानना चाहे तो जान सकता

है। ज्ञेय को यह पता ही नहीं होता कि कोई उसको जान भी रहा है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि ज्ञान की पर्याय स्वयं इस योग्यता के साथ उत्पन्न होती है कि वह पर्याय उस समय कौन से ज्ञेय को जानेगी। उसके उत्पाद काल में अनंत ज्ञेयों में से मात्र उसी ज्ञेय पर उस ज्ञान का लक्ष्य जाता है जिसको जानने की योग्यता लेकर उस पर्याय का जन्म हुआ है। क्योंकि प्रमेयत्वगुण तो सभी द्रव्यों में है, उनमें से मात्र उस ही ज्ञेय को जानने का कारण क्या? उत्तर स्पष्ट है कि यह जानना ज्ञेय की कृपा का फल नहीं है, ज्ञान की जैसी योग्यता होती है, मात्र वही उसका ज्ञेय बनता है और ऐसा ही कहा भी जाता है। यही ज्ञान का स्वभाव है। अतः संसार के सभी जीवों का स्वभाव तो इसीप्रकार का ही है।

प्रश्न होता है कि ज्ञेय से अलग रहते हुए भी ज्ञान, जान कैसे लेता है? इस प्रश्न का समाधान चक्षु के दृष्टान्त से समझेंगे। जैसे चक्षु दृश्य पदार्थ से अत्यन्त दूर रहते हुए तथा वह पदार्थ भी चक्षु से दूर वर्तते हुए भी, चक्षु उन पदार्थों को जान लेती है। प्रश्न होता है— उसका जानना किसप्रकार होता है? समाधान यह है कि चक्षु के अन्दर काली टीकी जिसको आधुनिक भाषा में लेन्स कहते हैं उसमें, दृश्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस प्रतिबिम्ब को ही वह चक्षु देखती है। यह चक्षु की असाधारण सामर्थ्य है। अगर उस लेन्स के ऊपर मोतियाबिन्द आ जावे तो उस चक्षु की टीकी पर दृश्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। फलतः दृश्य पदार्थ को नहीं देख पाती, क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब चक्षु में नहीं आया। अगर ज्ञेय से ज्ञान होता तो उस चक्षु को भी दिख जाना चाहिए था। इसीप्रकार आत्मा की, ज्ञानपर्याय की, जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता जिस समय होती है, उस समय उन ही ज्ञेयों के आकार वह ज्ञान की पर्याय परिणमित होती है, चक्षु की भाँति, यर्थाथतः वे ज्ञेयाकार ज्ञान की ही पर्याय हैं वास्तव में तो ज्ञानाकार ही हैं। आत्मा अपने ज्ञानाकारों को ही जानता है। पर को जानता है, ऐसा कहना तो यथार्थतः स्थूल उपचार है। वास्तव में तो

आत्मा की ज्ञान पर्याय, अपने ही ज्ञानाकारों को जानती है। इस अपेक्षा तो आत्मा स्व को ही जानता है अर्थात् स्वप्रकाशक ही है। लेकिन वे ज्ञानाकार ज्ञेय के आकार होने से, आत्मा परज्ञेयों को जानने वाला उपचार से कहा जाता है। यथार्थतः पर ज्ञेयों को भी ज्ञान तो स्व के माध्यम से ही जानता है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में ज्ञेय का तो कुछ भी कार्य नहीं है। यह प्रक्रिया तो, ज्ञेयों से निरपेक्ष रहते हुए आत्मा में होती रहती है।

यह तथ्य इसप्रकार भी प्रमाणित होता है कि ज्ञान अच्छे अथवा बुरे कैसे भी ज्ञेय को जाने तो भी ज्ञान उसके कारण किंचित् मात्र भी प्रभावित नहीं हो पाता। जैसे विष्टा को जानने वाला ज्ञान, विष्टा तुल्य अपवित्र नहीं हो जाता तथा अमृत को जानने वाला ज्ञान, अमृततुल्य पवित्र नहीं बन जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान तो हरप्रकार ज्ञेय से निरपेक्ष ही वर्तता है।

इतना होते हुए भी लाचारी यह है कि ज्ञेय की अपेक्षा लिये बिना उस ज्ञान पर्याय की स्वभाव सामर्थ्य का परिचय कराना भी संभव नहीं है। हम छद्मस्थ अज्ञानियों को तो परप्रकाशक ज्ञान के कार्य से ही, आत्मा के अस्तित्व का विश्वास होता है। स्वप्रकाशक ज्ञान का परिणमन तो अनुभव की चीज है। अगर मेरा आत्मा किसी भी पर को जानेगा ही नहीं तो दूसरा आत्मा मुझे भी नहीं जानेगा? लेकिन यह तो प्रत्यक्ष से बाधित है। सभी आत्माएं प्रत्यक्षरूप से परज्ञेयों को जानती ही हैं, अतः आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव ही वस्तु का स्वभाव है। अरहंत भगवान के ज्ञान से भी प्रमाणित है कि उनका ज्ञान भी स्व के ज्ञानपूर्वक लोकालोक को भी जानता है। आत्मा का ज्ञान अगर पर का भी ज्ञायक नहीं हो तो विश्व ही सिद्ध नहीं होगा, छह द्रव्य ही सिद्ध नहीं होंगे। हर एक द्रव्य अपने लिये आप स्व है तो, उसकी अपेक्षा, अन्य द्रव्य पर ही तो होंगे। उनका अस्तित्व ही नहीं माना जावे तो विश्व-व्यवस्था ही नहीं रहेगी। लेकिन ऐसा होना तो किसी प्रकार भी संभव नहीं हो सकता।

अतः जबकि विश्व का अस्तित्व है तो, छह द्रव्यों का अस्तित्व भी है, और जब उनका अस्तित्व है तो उनको जानने वाले ज्ञान का भी अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसप्रकार जानने वाले के बिना सभी का अस्तित्व कौन सिद्ध करेगा। इसप्रकार आत्मा का ज्ञान स्व-पर प्रकाशक ही है, यह भी निःशंक होकर स्वीकार करने योग्य है।

उपरोक्त प्रकार से ज्ञान के स्व प्रकाशक एवं पर प्रकाशक स्वभाव को समझकर, अपना वीतरागता रूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिए आत्मार्थी निम्नप्रकार पुरुषार्थ करता है :—

इस स्वाभाविक प्रक्रिया की यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न हो जाने से, भेद ज्ञान के लिए अत्यन्त सरल मार्ग प्राप्त हो जाता है। यथा, आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्यों के प्रदेश भिन्न होने से, आत्मा की उनके प्रति तो कर्तृत्वबुद्धि ही विसर्जित हो गई तथा आत्मा के विकारी भावों को, भावभेद की मुख्यता से समझकर, उनमें से अपनत्व का अभाव हो जाने से उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो गई। साथ ही पर के साथ ज्ञाता-ज्ञेय संबंध मानकर मात्र जानने की अपेक्षा, परमुखापेक्षी वृत्ति, स्वमुखापेक्षी हो जाती है। क्योंकि जानने की प्रक्रिया परसन्मुखता पूर्वक होती ही नहीं है, पर संबंधी ज्ञेयाकार भी अपनी ही ज्ञान पर्याय में विद्यमान रहते हैं, पर को भी स्व-सन्मुखता पूर्वक ही जानता है। इसलिए पर ज्ञेयों के साथ तो, जानने के लिए भी मेरा संबंध नहीं रहता। अतः मैं तो निरपेक्ष अकर्ताज्ञायक स्वभावी आत्मा ही हूँ। पर को जानने की क्रिया करने वाला भी मैं नहीं हूँ। इसप्रकार ज्ञान, निरपेक्षतापूर्वक वीतरागता को प्राप्त होकर, आत्म-सन्मुखतापूर्वक आत्मानुभव प्राप्त कर लेता है।

इसप्रकार प्रवचनसार के आधार से आत्मा के ज्ञानस्वभाव पर विस्तार से चर्चा भाग-४ में की गई है।

स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभावी आत्मा जब उपरोक्त् प्रकार से स्वाभाविक परिणमन करता है, तो स्व में एकत्वपूर्वक लीन होने से

निराकुलतारूपी परम आनन्द का अनुभव करता हुआ सादि अनन्त काल तक सुखी बना रहता है। जब वही आत्मा अपने स्व प्रकाशक ज्ञान के विषय को भूलकर, अपनी पर्याय में विद्यमान परप्रकाशक ज्ञान के विषयों में एकत्व करता है तो, उस ज्ञान को, इन्द्रियों की पराधीनतापूर्वक कार्य करना पड़ता है तथा उनमें सुख बुद्धि होने से एवं जानने की उत्कंठा एवं ज्ञेयों की अनेकता होने से, शीघ्रातिशीघ्र ज्ञप्तिपरिवर्तन करना पड़ता है। ज्ञप्ति परिवर्तन ही आकुलता है, अतः अनन्तकाल तक दुःखी बना रहता है।

ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव का तो अभाव हो सकता नहीं, अतः आत्मा को स्व तथा पर दोनों का ज्ञान तो अवश्य होगा ही। अज्ञानी आत्मा परज्ञेयों में प्रेम तथा सुखबुद्धि आदि होने से, स्वप्रकाशक ज्ञान के विषय का तिरस्कार करके, परप्रकाशक ज्ञान के विषयों की तरफ झपट्टे मारता है। फलस्वरूप दुःख का ही उत्पादन करता रहता है। इसके विपरीत ज्ञानी का प्रेम स्व-विषय में होने से, स्व में एकत्व करता है, फलतः वह निराकुलतारूपी परमानंद का उपभोक्ता हो जाता है। इन विषयों की चर्चा भी प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के आधार पर भाग-४ में की गई है। अज्ञानी आत्मा उपरोक्त स्वरूप को समझकर, परलक्ष्य छोड़कर, स्वलक्ष्य किसप्रकार कर सकता है, उन उपायों की चर्चा भी प्रवचनसार गाथा ८० के आधार पर उक्त पुस्तक भाग-४ में की गई है। इसप्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है इस पर विस्तार से चर्चा उपरोक्त पुस्तक में की गई है।

प्रश्न :— आत्मा का स्वभाव तो स्व अथवा पर कोई भी हो, सबको जानना मात्र है। जब आत्मा का स्वभाव जानना है, तो जानने की क्रिया, राग-विकार का उत्पादन कैसे कर सकती है? अगर स्वाभाविक क्रिया ही राग का उत्पादन करे तो, हमेशा ही विकार व राग का उत्पादन होते रहना चाहिए। लेकिन ऐसा तो होता नहीं। इसका साक्षात् प्रमाण भगवान अरहंत की आत्मा है। इसलिए प्रश्न होता है कि हमारा आत्मा

भी जानने की क्रिया ही तो करता है? तब हमको विकार क्यों हो जाता है?

समाधान :— यह बात तो ध्रुव सत्य है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अत: वह राग का उत्पादक नहीं हो सकता। उसकी जाननक्रिया का परिणमन स्व को जानने रूप और पर को जानने रूप - दो रूप में होता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से उसकी जाननक्रिया भी स्व-पर को जानने वाली है। दूसरी ओर छद्मस्थज्ञान की ऐसी निर्बलता है कि स्व और पर दोनों को जानने का स्वभाव होने पर भी दोनों को एकसाथ जान नहीं सकता। अत: वह जाननक्रिया जब स्व को जानेगी तब पर रह जावेगा एवं जब पर को जानेगी तो स्व रह जाता है। अत: वह एक समय एक को ही जान सकती है। जानन क्रिया का कार्य करे, पर की उपेक्षा करे। लेकिन अगर वह जाननक्रिया अपने स्वामी की उपेक्षा करके पर को जानने में उपयुक्त हो तो यह तो उसका विपरीत कार्य है। जिसप्रकार कोई पत्नी अपने पति को छोड़कर अन्य से प्रेम करे तो वह व्यभिचारिणी ही मानी जाती है, उसीप्रकार जाननक्रिया अपने स्वामी को जाने नहीं और पर को जानने का कार्य करे तो निश्चित ही ऐसा माना जाना चाहिए कि उसको अपने स्वामी की अपेक्षा परज्ञेयों से प्रेम ज्यादा है। इसीलिए वह स्व को छोड़कर परज्ञेयों को जानने का कार्य करती है। फलत: आकुलतारूपी दंड की पात्र होती है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की जानन क्रिया विकार की उत्पादक नहीं है वरन् परज्ञेयों के प्रति आकर्षण ही उसके विकार का उत्पादक है।

प्रश्न होता है — परज्ञेयों के प्रति आकर्षण होने का कारण क्या है ?

समाधान :— अनादिकाल से इस जीव ने स्व और पर का विवेक किया ही नहीं है। जो यथार्थत: पर हैं उनको स्व मानता चला आ रहा है, और स्व को पहिचाना ही नहीं है। फलत: पर का आकर्षण बने रहना

अवश्यंभावी है। इसीलिए अगर यह आत्मा ज्ञेयों का यथार्थ स्वरूप समझ ले तो ज्ञेयों का आकर्षण समाप्त हो जावे। इसलिये प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार के आधार पर भाग-४ में इस विषय की विस्तार से चर्चा की है।

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन के समापन के अंतिम श्लोक में दोनों अधिकारों की संधि करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि —

"आत्मा रूपी अधिकरण में रहने वाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहने वाले ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके उसकी सिद्धि के लिए (केवलज्ञान प्रगट करने के लिए) प्रशम के लक्ष से, उपशम प्राप्त करने के हेतु से, ज्ञेयतत्त्व का जानने का इच्छुक जीव सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किंचित्मात्र भी उत्पत्ति नहीं होती।

उक्त श्लोक से यह भी समझ में आता है कि मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिए ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप एवं उनको जानने वाली जाननक्रिया, दोनों का यथार्थ स्वरूप समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस विषय पर भी चर्चा भाग-४ में की गई है।

अनादिकाल से अज्ञानी जीव को अपने शरीरादि नोकर्म असमान जातीय द्रव्य पर्याय ही मुख्यत: ज्ञान का ज्ञेय बना हुआ है। इस ही में अनादि काल से एकत्वबुद्धि होने से उसही को "मैं" के रूप में मानता हुआ एवं उसही की रक्षा आदि करने में व्यस्त रहता चला आ रहा है।शरीर से संबंधी जो भी हों उन सबको भी अपनेपने की मान्यता सहित ज्ञेय बनाता चला आ रहा है। उस असमानजातीय द्रव्यपर्याय की वास्तविक स्थिति क्या है अर्थात् वास्तविक ज्ञेय क्या है तथा जानने में क्या व कैसे भूल होती है - इस विषय की विस्तार से चर्चा भाग-४ में की गई है।

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन की गाथा ९३ की टीका में स्पष्ट किया गया है कि द्रव्य-गुण-पर्याय मय सम्पूर्ण पदार्थ वास्तव में ज्ञेय है, उनमें से अकेली पर्याय का ज्ञेय बनाने वाला पर्यायमूढ़ अर्थात् मिथ्यात्वी अज्ञानी है। इस ही टीका में पर्याय के मुख्य भेद दो बताये हैं, एक तो द्रव्यपर्याय एवं दूसरा गुणपर्याय। उनमें भी दो-दो भेद किए हैं, स्वभावद्रव्य पर्याय एवं विभावद्रव्यपर्याय। इसीप्रकार गुणपर्याय के भी स्वभाव-विभाव दो भेद किये हैं। इनमें से विभाव द्रव्य पर्याय तो जीव और पुद्गल की मिली हुई असमानजातीय द्रव्यपर्याय को बताया है एवं स्व-पर के हेतु से प्रवर्तमान पूर्व उत्तर पर्याय में तारतम्यता को विभाव गुण पर्याय बताया है। इन पर्यायों को ज्ञेय बनाने वाले को पर्यायमूढ़ तथा परमसमय कहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ को ज्ञेय नहीं बनाकर इन पर्यायों को ज्ञेय बनाता है, उसको आचार्य देव मिथ्यादृष्टि कहते हैं। पर्यायों को अपने ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनाकर जो जीव पदार्थ को ज्ञेय बनावेगा उसको मोह की उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा उपरोक्त गाथा का तात्पर्य निकलता है।

इसका आधार भी यह है कि प्रमेयत्वगुण अर्थात् ज्ञेय बनने की योग्यता वाला गुण तो द्रव्य में है, अकेली पर्याय में नहीं। द्रव्यगत होने से पर्याय द्रव्य का ही अंग है इसकारण पर्याय भी ज्ञेय बन सकेगी लेकिन प्रमेयत्वगुण पूरे पदार्थ में होने से, द्रव्य को छोड़कर अकेली पर्याय कैसे ज्ञेय बन सकती है। अतः अकेली पर्याय को ज्ञेय बनाने वाला मिथ्यादृष्टी ही है।

उक्त दोनों पर्यायों में से प्रवचनसार का मुख्य केन्द्रबिन्दु है, असमानजातीय द्रव्यपर्याय का यथार्थ स्वरूप समझाना, पर्याय को ज्ञेय बनाना-छोड़कर, पदार्थ को ज्ञेय बनाने की विधि समझाना है। इसप्रकार मोह उत्पत्ति के कारणों के अभाव करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इन सभी विषयों पर विस्तार से चर्चा भाग-४ में की गई है।

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रवचनसार के विवेचन में भेदज्ञान के लिये असमानजातीय द्रव्य पर्याय को मुख्य क्यों किया ?

समाधान :— प्रवचनसार का विषय तो ज्ञान से ज्ञेय को विभागीकरण कराने का है। जीव और पुद्गल वास्तव में दो द्रव्य हैं, वे स्वतंत्रता से अपनी-अपनी पर्यायों को कर रहे हैं। उन दोनों के एक क्षेत्रावगाह संबंध से उत्पन्न, पर्याय विशेष को हम असमानजातीय-द्रव्य पर्याय कहते हैं। वास्तव में वह कोई पर्याय ही नहीं है, पर्याय तो दोनों द्रव्यों में होने वाली उन उनकी पर्यायें हैं। पदार्थ पर्याय बिना का होता नहीं और पर्यायें सब अपने-अपने द्रव्यों से संबद्ध रहती हैं। ज्ञेय तो वास्तव में पदार्थ होता है लेकिन अज्ञानी तो दोनों द्रव्यों की एक क्षेत्रावगाह से उत्पन्न पर्याय-विशेष को ही अपने रूप में मान बैठा है, इसलिए वह तो उसी को अपना ज्ञेय बनाता है। इसलिए प्रवचनसार, ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप बताकर इन दोनों की एकत्वबुद्धि तोड़कर, जीव एवं पुद्गल दोनों को अलग-अलग पदार्थ के रूप में स्थापित करता है। यथार्थतः ज्ञेय तो पदार्थ होता है और अज्ञानी मात्र पर्याय को ही ज्ञेय बनाता है। इस ग्रंथ के द्वारा उसको उसकी भूल का ज्ञान कराकर यथार्थ स्वरूप बताया है। यथार्थतः तो असमानजातीय द्रव्य-पर्याय का अस्तित्व ही ज्ञेय के रूप में समाप्त हो जाता है तथा दोनों की एकत्वबुद्धि का अभाव हो जाने से मोह की उत्पत्ति के कारणों का भी अभाव हो जाता है आदि विषयों पर भी चर्चा भाग-४ में की गई है।

भाग - ५ का विषय

शंका :— विभाव गुण पर्याय से भी भेदज्ञान हुए बिना आत्मोपलब्धि तो नहीं हो सकती ?

समाधान :— असमान जातीय द्रव्य पर्याय का तो वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं बनता। वे तो दो द्रव्यों की भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं। उन दोनों को मिलाकर कह देने से एक द्रव्य की पर्याय कैसे हो सकती है ? फिर भी उनको किसी एक द्रव्य की कहना अज्ञानी का स्थूल उपचार एवं मिथ्यात्व है।

लेकिन गुणपर्यायें तो ऐसी पर्यायें नहीं हैं। वे तो अपने-अपने द्रव्य के साथ ऐसी सम्बद्ध है कि कभी भिन्न हो ही नहीं सकती। क्योंकि पर्याय द्रव्य के बिना कभी होता नहीं तथा द्रव्य पर्याय बिना कभी नहीं रह सकता। अतः किसी भी एक का अस्तित्व ही दोनों का अस्तित्व है, इसलिए उसका अस्तित्व, असमानजातीय द्रव्य पर्याय के जैसा नहीं है। इसलिये इससे भी भेदज्ञान हुए बिना आत्मोपलब्धि संभव नहीं है, लेकिन इससे भेदज्ञान करने की शैली उपरोक्त शैली से भिन्न है। इसमें तो पर्याय दृष्टि से देखो तो, जैसी पर्याय होती है उस समय द्रव्य, उस पर्याय रूप ही दिखने लग जाता है। लेकिन ज्ञानी का ज्ञान तो पर्याय को ज्ञेय ही नहीं बनाता, वह तो अभेद पदार्थ को ज्ञेय बनाता है। अतः वह पर्याय कैसी भी हो, ज्ञानी को मोह उत्पादन का कारण नहीं बनती। ज्ञानी को तो सम्यक् नय प्रगट हो जाने से, उसका ज्ञान तो मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक ही कार्य करता है तथा उसको द्रव्यदृष्टि प्रगट हो जाने से, वह ज्ञेयों को भी द्रव्यार्थिकनय रूपी ज्ञानचक्षु के द्वारा ही जानता है। अतः वस्तु में विशेष अर्थात् पर्यायें विद्यमान होते हुए भी, इन विशेषों को गौणकर, मात्र अभेद सामान्य ही अर्थात् पदार्थ ही ज्ञेय बनता है। पर्यायें रहते हुए भी पर्यायभेद नहीं रहता। अतः पर्यायजन्य असमानता का अभाव हो जाने से राग का उत्पादन ही नहीं होता। यही कारण है कि उसको मोह उत्पन्न नहीं होता। अतः प्रवचनसार की शैली में ज्ञान-ज्ञेय के विभागीकरण से वास्तव में तो विभावगुण पर्याय का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह तो द्रव्य में सम्मिलित रहते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनती। अतः उसके ज्ञान में तो भिन्न पर्याय का अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिए भाग-४ में इसकी चर्चा नहीं की गई है लेकिन भाग-५ में इस पर चर्चा की जा रही है।

भाग-५ की चर्चा का मुख्य विषय होगा विभाव गुणपर्यायों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराकर, उससे भी त्रिकाली ज्ञायक भाव भिन्न कैसे हो? यह समझने की मुख्यता से चर्चा होगी। इस चर्चा का मूल आधार समयसार ग्रंथाधिराज रहेगा।

समयसार की शैली मुख्यता से जीवतत्व त्रिकाली ध्रुवतत्व को, गुणपर्यायों से विशेषतः विभावगुण पर्यायों से भिन्न कैसे किया जावे, इस ही विधि का ज्ञान कराने वाली है।

वास्तव में विचारा जावे तो नित्य एवं अनित्य पक्ष दोनों एक ही समय आत्मा में विद्यमान हैं व रहेंगे, उनको अन्य द्रव्यों की भाँति आत्मा में से निकालकर अलग नहीं किया जा सकता। अन्य द्रव्य तो भिन्न हैं ही अतः उनको तो एक मान लेना स्थूल भूल थी। वह भूल जिसने की है उसको अपनी भूल छोड़ देना कठिन कैसे हो सकता है ? लेकिन आत्मा की ये पर्यायें भी आत्मा में ही तो हैं, अतः इनको निकालकर फेंक देने का प्रयास निरर्थक ही होगा। लेकिन मेरे नित्य भाव से विपरीत, इनका अनित्य स्वभाव होने से, वे आत्मा में भले ही बनी रहें लेकिन उनसे ममत्व तो तोड़ा ही जा सकता है और यह कार्य कठिन भी नहीं है। अतः इन अनित्य भावों से ममत्व तो मान्यता में तोड़ा ही जा सकता है। ममत्व तोड़ने के लिए वस्तु में कुछ भी छेड़छाड़ करना आवश्यक होता ही नहीं है। जैसे अपने मित्र के प्रति कोई भी कारण बन जाने से मित्रता छोड़ने के लिए क्या मित्र में कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा? कुछ नहीं करना होगा मात्र अपनी मान्यता में अर्थात् श्रद्धा में मेरेपने की मान्यता छोड़ देना है, वस्तु में कुछ भी नहीं करना पड़ता। । पर्यायों से अपनापन तोड़ने का मूल उपाय नयज्ञान है। उस नयज्ञान के प्रयोग द्वारा इन विकारी, निर्विकारी, अनित्य भावों अर्थात् पर्यायों से भेदज्ञान करने के उपाय की विस्तार से चर्चा भाग-५ में की जा रही है।

इसीप्रकार जब द्रव्य और पर्याय दोनों हर समय एकसाथ ही द्रव्य में रहते हैं तब द्रव्य से पर्याय को भिन्न करना चाहें तो भी भिन्न नहीं की जा सकती तब उस द्रव्य की पर्याय को पर मानकर, अपने से भिन्न कैसे समझा जावे ? इस विषय पर भी चर्चा भाग-५ में की जा रही है।

जीव की पर्याय जब विकारी रूप होकर परिणम ही रही है, तब उसी समय उसके स्वामी को विकार रहित कैसे माना जा सकता है, क्योंकि

पर्याय से द्रव्य अलग तो हो सकता नहीं, अतः इसका समाधान भी भाग-५ में प्राप्त होगा। आत्मा में जब विकार है ही नहीं तो पर्याय में विकार कैसे हो गया एवं कहाँ से आ गया, आदि विषयों पर भी चर्चा उक्त भाग में होगी।

विकार होने के समय द्रव्यकर्म भी उस ही जाति का व उतने ही अनुभाग का उदय होता है इसकारण उस पर्याय को नैमित्तिक भी कहा जाता है, मात्र ऐसा होने के कारण ही उस पर्याय को कर्मकृत तो नहीं कहा जाना चाहिए, लेकिन समयसार में उस ही पर्याय को कर्मकृत कहा है ? जबकि द्रव्यकर्म पुद्गलद्रव्य की पर्याय होने से, उसका आत्मा में कुछ भी कार्य हो ही नहीं सकता ? इस विषय पर भी भाग-५ में चर्चा की जा रही है।

आत्मा की ज्ञानपर्याय जब स्वाभाविक पर्याय को ज्ञेय बनाती है तो उसको आत्मद्रव्य भी ज्ञेय बन जाता है क्योंकि उसका स्वभाव से अभेद है और वही ज्ञान पर्याय जब विकारी पर्याय को ज्ञेय बनाती है तो उसका ज्ञेय द्रव्यकर्म कैसे बन जाता है आदि अनेक अपेक्षाओं के द्वारा त्रिकाली ज्ञायक भाव से पर्यायों का व गुण भेदों का भेदज्ञान कैसे हो सकता है, इस पर भी विस्तार से चर्चा इस पांचवें भाग में की जा रही है।

अस्तिपक्ष के द्वारा आत्मा की महिमा का विश्वास लाने के लिये उसकी स्वयं की शक्ति सामर्थ्य का विस्तार से विवेचन इस पांचवें भाग में किया जावेगा। यथार्थतः हमारा उपयोग तो रुचि का अनुकरण करने वाला होता है। उपयोग अर्थात् जाननक्रिया जिस ओर की रुचि होती है, स्वयं उस ही ओर उपयोग कार्यशील हो जाता है। कोई क्षण भी ऐसा नहीं होता, जब उपयोग कार्य करे बिना रह जावे। इसलिये जब तक आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा जाकर, रुचि का केन्द्रबिन्दु, मात्र एक त्रिकाली ज्ञायकभाव नहीं हो जावेगा, तब तक उपयोग स्वलक्ष्यी नहीं हो सकेगा। जब तक उपयोग पर से लक्ष्य हटाकर, स्व की सन्मुखता नहीं

करेगा, तब तक आत्मा का अनुभव कौन करेगा ? अतः अनादिकाल से पर अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव से भिन्न, चाहे अपनी निर्मल अथवा विकारी पर्याय ही क्यों न हो, अथवा अनेक गुणों के भेद ही क्यों न हों ? कहीं भी किंचित्मात्र भी हितबुद्धि होगी तो उपयोग, आत्मसन्मुख नहीं हो पावेगा; उस ही में रुका रहेगा। अतः रुचि की जितनी उग्रता, आत्मा में उपयोग अभेद करने के लिये जब उत्पन्न होगी तभी उपयोग आत्मा में एकत्व अर्थात् तन्मय हो सकेगा। उसही दशा का नाम आत्मानुभूति है। ऐसी दशा कैसे प्राप्त हो उस संबंध की चर्चा भी भाग-५ में की जा रही है।

परज्ञेय मात्र से संबंध तोड़ने का उपाय जाननक्रिया का वास्तविक स्वरूप समझना हैं। ज्ञेयमात्र से उपेक्षित बुद्धि उत्पन्न कर, त्रिकाली ज्ञायकभाव को रुचि का केन्द्र बिन्दु बनाने से ही, उपयोग स्वलक्ष्यी हो सकेगा। वास्तव में ज्ञान की पर्याय में परसंबंधी ज्ञेयाकार, ज्ञानपर्याय की योग्यतानुसार स्वयं के कारण से बनते हैं उसके प्रति भी उपेक्षित बुद्धि उत्पन्न कर, एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव, रुचि का केन्द्र बिन्दु बन जावे तब उपयोग त्रिकाली में जाकर अभेद होगा। इसही दशा का नाम पर्यायार्थिकनय के विषय को गौणकर, द्रव्यार्थिकनय के विषय को मुख्य करना है और उस ही में अपनापन स्थापन करना ही द्रव्यदृष्टि है। यह ज्ञानीजीव जगत् के सभी पदार्थों को एवं अपने आपको भी द्रव्य की दृष्टि से देखता है। अतः असमानता का अभाव हो जाता है फलतः रागादि की उत्पत्ति नहीं होती।

इसप्रकार भाग-५ में समयसार के व अन्य आगम आधारों के एवं अनेक तर्कों के माध्यम से अनित्य स्वभावी पर्यायों से एवं गुणभेदों के विकल्पों से, अभेद त्रिकाली ज्ञायकभाव को भिन्न समझकर, अपनी श्रद्धा में, त्रिकाली ज्ञायकभाव में अहंपने की - अपनेपने की श्रद्धा उत्पन्न कराने का प्रयास किया जावेगा। साथ ही उस त्रिकाली ज्ञायकभाव की अद्भुत अचिंत्य महिमा का ज्ञान एवं श्रद्धान कराकर रुचि का केन्द्र बिन्दु, परज्ञेयों के स्थान पर मात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव बने- ऐसा प्रयास किया जावेगा।

इन दोनों के फलस्वरूप इस आत्मा की श्रद्धा में, आकर्षण का केन्द्र, एकमात्र त्रिकाली ज्ञायकभाव ऐसा जमजावे, कि उपयोग उसही का शरण लेने के लिए अत्यन्त उत्साहित हो जावे। जहाज पर बैठे पक्षी की भाँति इसको जगत में कोई शरणभूत ही नहीं लगे, एकमात्र ज्ञायकभाव ही शरणभूत लगे - ऐसी स्थिति अंदर में जाग्रत होते ही, इस आत्मा का उपयोग अपनी आत्मा को साक्षात्कार कर लेगा। इसप्रकार की परिणति आत्मा की उत्पन्न हो - ऐसी चर्चा भाग-५ में करने का प्रयास किया गया।

आगामी भागों का विषय

आत्मार्थी उपरोक्त प्रकार से मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित समझकर, अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिए निशंकतापूर्वक कमर कसकर तैयार हो जाता है। उस आत्मार्थी को अंदर में अर्थात् श्रद्धा में कर्तृत्वबुद्धि का अभिप्राय समाप्त होगया होता है। "जगत में किसी भी पदार्थ का तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता, लेकिन अपने स्वयं के परिणामों में भी कुछ नहीं कर सकता - ऐसी श्रद्धा जाग्रत होने पर, पर्याय के प्रति उपेक्षा बुद्धि प्रगट हो गई है। फलतः रुचि का वेग सब तरफ से सिमट कर, एकमात्र ज्ञायक स्वरूपी निज आत्मतत्त्व के सन्मुख हो जाना चाहता है। इसप्रकार मार्ग समझ में तो आ जाता है, लेकिन विधेयात्मक पद्धति प्राप्त हुए बिना वह उपयोग आत्मा में प्रवेश तो नहीं करता । अतः प्रायोगिक पद्धति की आवश्यकता अनुभव करते हुए, आत्मार्थी ऐसे मार्ग को ढूँढने का प्रयास करता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। स्वभाव तो अमर्यादित ही होता है अतः आत्मा सबको जाननेवाला, सर्वज्ञ स्वभावी ही है। ज्ञान का स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक है। अतः वह स्व एवं पर, सब को ही जानने के स्वभाव वाला है। उस ज्ञान की जानन क्रिया, उपयोग के माध्यम से कार्य करती है। वह जानन क्रिया किसी समय भी जानने का कार्य तो बंद कर ही नहीं सकती। अतः यह आत्मा निगोद में हो अथवा सिद्ध दशा को प्राप्त हो जावे, जानने का कार्य तो निरंतर करती ही रहती है। कठिनता तो

यह है कि आत्मा में तो स्व एवं पर दोनों का प्रकाशन एक ही साथ विद्यमान रहता है, लेकिन छद्मस्थ प्राणियों का उपयोग एकसमय दोनों में से एक को ही जान पाता है, एकसाथ दोनों को नहीं जान सकता। अतः यह निर्णय करने की जिम्मेदारी तो आत्मा पर ही आ जाती है, कि अपने उपयोग को किसके जानने में केन्द्रित करना।

रागादि की उत्पत्ति के कारणों पर विचार करें तो अनुभव में आता है कि मेरा उपयोग परज्ञेयों के प्रति सन्मुख होता है तो रागादि उत्पन्न हो जाते हैं। स्व की सन्मुखता हो तो रागादि का उत्पादन नहीं होकर, वीतरागी निराकुलता का उत्पादन होने लगता है। इन सबसे स्पष्ट है कि आत्मा को अपने उपयोग को, स्वज्ञेय में लगाना ही कार्यकारी है, पर की ओर जावेगा तो आत्मा के लिए हानि ही करने वाला होगा।

अब समस्या यह रह जाती है कि वे कौन से उपाय हैं, जिनको अपनाने से उपयोग पर की ओर से हटकर स्व की ओर सन्मुख हो जावे। यही वास्तविक मोक्षमार्ग होगा और आत्मार्थी का यही एकमात्र सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है।

उपरोक्त भूमिका प्राप्त जीव की अंतरंग परिणति की उस समय कैसी स्थिति होती है अर्थात् निर्विकल्प स्वानुभूति प्रगट होने के काल में अन्तर्परिणति किस प्रकार वर्तती है, उसका विशद विवेचन प्रातः स्मरणीय पूज्य श्रीकानजीस्वामी ने पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर प्रवचन किये हैं जो कि अध्यात्म संदेश के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं उनसे प्राप्त कर लेना चाहिए।

इसप्रकार सुखी होने का उपाय पुस्तकमाला के पाँचों भागों के विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। जिज्ञासु बंधुओं से निवेदन है कि वे उक्त पुस्तक के द्वारा यथार्थ मार्ग प्राप्तकर - आत्मानुभूति प्राप्तकर अपने जीवन को कृतकृत्य करें।

***

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत भाग-५ का विषय है "यथार्थ निर्णयपूर्वक ज्ञातृतत्त्व का पर्यायमात्र से भेदज्ञान।"

आत्मार्थी जीव को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विश्व का अर्थात् छहों द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप जानकर ऐसी श्रद्धा जाग्रत करना चाहिए की सभी द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् हैं। सभी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखकर, अपने-अपने परिणमनों को, अपने-आप में रहते हुए बिना किसी की मदद अथवा हस्तक्षेप के निर्बाध रूप से करते रहते हैं। उनमें से ही, मैं भी एक जीव नाम का द्रव्य हूँ, मैं भी अपने-आप में रहते हुए बिना किसी की मदद अथवा रोक-टोक के निर्बाध गति से अपने-अपने परिणमनों को करता रहता हूँ। अतः मैं न तो किसी द्रव्य के किसी भी परिणमन का कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, न मेरे परिणमनों का द्रव्य कर्म आदि कोई भी अन्य द्रव्य कर्ता हो सकता है, और न भोक्ता भी हो सकता है। सब अपने-अपने परिणमनों के करने वाले हैं।

ऐसी श्रद्धा हो जाने पर, फिर आत्मार्थी को निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वरूप क्या है? इस पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। सत्-समागम पूर्वक आगम का अभ्यास करना चाहिए। आत्मा का असाधारण लक्षण ज्ञान है। उक्त लक्षण के द्वारा अनेक भावों में छुपे हुए आत्मा को ज्ञान लक्षण के माध्यम से अलग पहिचान लेना चाहिए। उस निर्णय करने में सहायक द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनयों को एवं निश्चय-व्यावहारनयों के यथार्थ स्वरूप को समझकर, उनके द्वारा अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए कि आत्मा तो एक ज्ञानस्वभावी ही है, अन्य कोई स्वभावी है ही नहीं।

जो ज्ञायकमात्र अपना यथार्थ स्वरूप है, वह उपरोक्त अध्ययनों एवं सत्समागम के द्वारा समझना चाहिए। प्रवचनसार के गाथा ८० के अनुसार भगवान अरहंत की आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप

पहिचानकर उनकी आत्मा वर्तमान में जैसी परिणम रही है, वैसे का वैसा ही मेरा त्रिकाली भाव भी, वर्तमान में ही नहीं, त्रिकाल में भी है। आदि-आदि द्वारा अपने ज्ञायकस्वभाव की महिमा लाकर उसमें अहंपना स्थापित करना चाहिए।

मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी अर्थात् ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी है। ऐसा उपरोक्त प्रकारों से निर्णय हो जाने पर भी, एक प्रश्न खड़ा होता है कि अनेक प्रकार के ज्ञेयों की जानकारी तो ज्ञान में आती ही है, उनके जानने से राग भी उत्पन्न हो जाता है, और ज्ञान का स्वभाव जानने का है, इसलिए उसका जानना तो रुकेगा नहीं और जानने पर राग हो जावेगा, तो आत्मा वीतरागी कैसे हो सकेगा ? उक्त समस्या के समाधान हेतु आचार्य श्री ने प्रवचनसार में, ज्ञान-ज्ञेय के विभागीकरण की पद्धति का विस्तार से वर्णन कर, स्पष्ट किया है कि ज्ञेयों के जानने से ही राग उत्पन्न नहीं होता। ऐसा हो तो केवली भगवान को भी राग हो जाना चाहिए था। इससे सिद्ध होता है कि जानना राग की उत्पत्ति का कारण नहीं है। अज्ञानी आत्मा की जानने की दूषित पद्धति ही राग की उत्पत्ति का कारण है। जाननक्रिया की वास्तविक स्थिति-पद्धति का ज्ञान होने से, ज्ञेय मात्र के प्रति उपेक्षा वृत्ति जाग्रत होना चाहिए। पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि खड़ी होकर रुचि का बेग स्वतत्व की ओर हो जाता है, ऐसा हो जाने से आत्मा का उपयोग भी ज्ञायकभाव के सन्मुख हो जाता है, उससे ज्ञान में ज्ञेय का विभागीकरण पूर्वक ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय का भेद भी अस्त हो जाता है, और आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है।

उपरोक्त समस्त प्रकरणों का विस्तार से स्पष्टीकरण इस पुस्तक श्रृंखला के भाग १ से ४ में किया जा चुका है और उसी का संक्षिप्त वर्णन भाग-५ के प्रारंभ में दिये गये "सुखी होने का उपाय के चारों भागों के विषय का परिचय" में दिया गया है। पाठकों को अवश्य पढ़ लेना चाहिए।

इस भाग का विषय भी मूलतः समयसार की गाथा १४४ की टीका पर आधारित है। वास्तव में उपरोक्त टीका, प्रारंभिक आत्मार्थी का प्रारंभ से लेकर, आत्मानुभव प्राप्त करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का सांगोपांग विवेचन करने वाली है। प्रातः स्मरणीय पूज्य श्रीकानजीस्वामी ने अध्यात्म संदेश के नाम से प्रकाशित प्रवचनों में उपरोक्त टीका के संबंध में निम्नप्रकार महिमा की है :—

"प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके ; यहाँ तक तो सविकल्प दशा है — बाद में आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि करने के लिए अर्थात् अनुभव के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रिय व मन द्वारा प्रवर्तती हुई बुद्धियाँ - इनको मर्यादा में लाकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया, तथा अनेक प्रकार के नयपक्ष के विकल्पों द्वारा आकुलता की उत्पादक ऐसी श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसम्मुख किया, इस रीति से मति-श्रुतज्ञान को पर की ओर से समेटकर आत्मस्वभाव में लाने से तत्क्षण ही अत्यन्त विकल्परहित होकर, यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है; इसमें आत्मा सम्यक्पने से दिखता है व जानने में आता है, अतः यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। इस अनुभव को "पक्षातिक्रान्त" कहा है, क्योंकि इसमें नय पक्ष के कोई विकल्प नहीं रहते। ऐसा अनुभव करे, तब ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है।

ऐसा अनुभव कैसे हो ? यह पहले ही दिखाया है। प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके — ऐसे यथार्थ निश्चय के बल से विकल्प टूटकर साक्षात् अनुभव होता है। अंतर में आत्मस्वरूप का सच्चा निर्णय होना, यही मुख्य वस्तु है; इसकी तो महत्ता जगत को नहीं दिखती और बाह्य क्रिया की महत्ता दिखती है, परन्तु वह तो उपाय नहीं है। अन्तर में आत्मा के स्वभाव का अच्छी तरह निर्णय करके इसके अन्तर्मन्थन से स्वानुभव होता है, यही सम्यग्दर्शन का उपाय

है।" पूज्य स्वामीजी का उपरोक्त निर्देश भी स्पष्ट करता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का मात्र यही उपाय है, अन्य कोई नहीं।

उपरोक्त पद्धति के अन्तर्गत इस पुस्तक के पूर्वभागों का विषय एवं वर्तमान भाग-५ का विषय भी इस टीका के पूर्व चरण "प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्म का निर्णय करके" मात्र उसकी पूर्ति करने के लिए ही चल रहा है। आत्मा को ज्ञानस्वभावी स्वीकार करने में, बाधक रूप से लगने वाली अनेक शंकाओं का निराकरण हुए बिना "मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, अन्य कोई प्रकार का दिखने में आता हो अथवा कहा जाता हो तो भी, मैं तो किसी भी प्रकार अन्य स्वभावी नहीं हूँ ऐसी श्रद्धा निःशंक रूप से जाग्रत नहीं होती। ऐसी श्रद्धा के अभाव में रुचि का केन्द्रबिन्दु अकेला ज्ञायक भाव नहीं बनता। सब ओर से रुचि सिमटकर जब तक ज्ञायक के सन्मुख नहीं होती तब तक, उपरोक्त टीका के उत्तर चरणों की पूर्ति होना तो संभव हो ही नहीं सकती। फलतः आत्मानुभव की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

उपरोक्त अनेक बाधक शंकाओं का निराकरण तो पूर्व भागों में हो ही चुका है। इस भाग का मूल विषय तो, मात्र एक आत्मा ही रहेगा। आत्मद्रव्य की हर समय पर्याय तो होती ही है, पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकती तथा द्रव्य पर्याय से भिन्न नहीं हो सकता। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों मिलकर सत् तो एक ही हैं तथा प्रदेश भी द्रव्य और पर्याय के एक ही हैं। प्रवचनसार में तो यहां तक कहा गया है कि द्रव्य पर्याय से तन्मय होता है, पर्याय जब शुद्ध है तो आत्मा भी शुद्ध है और पर्याय जब अशुद्ध है तो आत्मा भी अशुद्ध है। इसप्रकार पर्याय द्रव्य से अभेद ही रहती है। दोनों को भिन्न करना संभव ही नहीं लगता। पंचास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा ६२ में कहा है कि षट्कारक रूप से आत्मा अपनी विकारी, निर्विकारी पर्याय का कर्ता है। हमारे अनुभव में भी आता है कि जब हमको किसी भी प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं उस समय ऐसा लगता है कि आत्मा ही उस रूप हो गया हो। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय की अभिन्न स्थिति

दिखते हुए इन पर्यायों से आत्मा ज्ञायकभाव भिन्न कैसे मान लिया जाये ? यह असंभव जैसा ही लगता है।

उपरोक्त समस्या का समाधान मुख्यरूप से समयसार ग्रंथाधिराज के माध्यम से प्रस्तुत भाग-५ में करने का प्रयास किया गया है। पाठकगण इस दृष्टिकोण को मुख्य रखकर प्रस्तुत भाग के विषय को समझने की चेष्टा करेंगे तो निःशंक निर्णय होने पर, रुचि आत्मसन्मुख होकर, टीका के उत्तर चरण में प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

उपरोक्त टीका के प्रथम चरण "आत्मा ज्ञानस्वभावी है"– इस निर्णय करने के दो पक्ष हैं। पहला तो अस्तिपक्ष है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है, ऐसा कैसे माना जावे ? दूसरा नास्तिपक्ष कि आत्मा अन्य स्वभावी नहीं है- ऐसा क्यों माना जावे ? इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष, कि आत्माज्ञान स्वभावी है ऐसा कैसे माना जावे ? इसकी चर्चा तो इसी पुस्तक के भाग-३ में एवं ४ में विस्तार से की जा चुकी है। अतः इस विषय की पुनरावृत्ति इस भाग-५ में नहीं की गई है। पाठक उन ही भागों से उस विषय का पुनः अध्ययन करें। इसीप्रकार छहद्रव्यों से मिश्र आत्मा को कहा जाता है लेकिन आत्मा उस रूप नहीं हैं इसकी भी चर्चा भाग-एक व दो में हो चुकी है तथा अन्य कोई प्रकार माना-जाना गया हो तो भी आत्मा उस रूप नहीं है, इन सबकी चर्चा भी पूर्व भागों में हो चुकी है। भाग-४ में यह भी विस्तार से चर्चा की गई है कि ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात होने पर भी आत्मा उन रूप कैसे नहीं हैं तथा उनसे आत्मा को भिन्न कैसे माना जावे, इसकी भी चर्चा हो चुकी है। अब तो नास्तिपक्ष का मात्र एक पहलू बाकी रह गया था, द्रव्य से पर्याय अभिन्न होते हुए भी, उनसे ज्ञायकभाव को भिन्न कैसे माना जावे। उस पक्ष की चर्चा इस भाग-५ में करके नास्तिपक्ष के सभी पहलुओं को निरस्त करके, आत्मा को निशंक करने का प्रयास किया जावेगा।

उपरोक्त टीका के उत्तरचरणों के संबंध में आयु शेष रही तो आगे के भागों में स्पष्ट करने का प्रयास किया जावेगा।

पात्रता

"मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ" ऐसा निःशंक निर्णय करने के लिए प्रयत्नशील आत्मार्थी की पात्रता कैसी होती है, यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। श्रीमद्राजचन्द्रजी का वाक्य है— "पात्र बिना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान।" इसप्रकार आत्मार्थी को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य पात्रता होना भी अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

पात्रता के चिन्ह बताये हैं - "कषाय की उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष, भवेखेद प्राणीदया वहाँ आत्मार्थ निवास" ऐसे पात्र जीव की जीवनचर्या कैसी हो जाती है, उसके लिए कहा है कि "काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मनरोग।" आत्मार्थी का जीवन सहजरूप से इसप्रकार का हो जाता है।

सुखी होने के उपाय पुस्तक के चारों भागों को अध्ययन करने वाले आत्मार्थी की पात्रता तो इतनी उग्र हो जानी चाहिए कि आत्मार्थ पोषण के साधनों के अतिरिक्त, अन्य संयोगों से अंतरंग में उसे अत्यन्त विरक्ति वर्तनी चाहिए। सामान्य प्राणी का अगर थोड़ी देर भी उपयोग खाली रह जावे अर्थात् कोई आलंबन नहीं मिले तो वह आकुल-व्याकुल हो जाता है, कहने लगता है "मैं तो बोर हो गया हूँ" अतः कोई न कोई प्रकार के आलबंन को ढूँढ़ता है एवं जुटाता है। जैसे अवकाश के दिन अथवा थोड़ा सा समय मिलने पर, सिनेमा जाने का, दोस्तों के साथ बैठकर गप्पें लड़ाने का, पिकनिक मनाने का, टी.वी. देखने का तथा वी.सी. आर. के द्वारा अनेक फिल्में देखने में, घंटों बर्बाद करके, उपयोग को कहीं न कहीं फंसाता रहता है। उसको उपयोग का खाली होना भारभूत लगता है। अतः पाँचों इन्द्रियों में से किसी न किसी इन्द्रिय के विषय में उपयोग उलझाये रखने के लिए साधन जुटाने में व्यस्त रहता है।

इसके विपरीत, आत्मार्थी को तो उपयोग को बाहर के बाहर फंसाने

वाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों के जितने भी साधन हैं वे सब, काले सर्प जैसे लगने लग जाते हैं। पण्डित भूधरदासजी ने कहा है कि —

"राग उदय भोगभाव लागत सुहावने-से,
बिना राग ऐसे लगे जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सो पाग रहे तन में सदीवजीव,
राग गये आवत गिलान होत न्यारे हैं॥
राग सौ जगतरीत झूंठी सब सांची जानै,
राग गये सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिनरागी के विचार में बड़ो ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहू-काहू को बयारे हैं॥"

अतः उक्त आत्मार्थी की भावना तो ऐसी रहती है। कि मेरा उपयोग कहीं किसी में भी नहीं उलझे और ज्यादा से ज्यादा समय उपयोग खाली रहे तो आत्मा के कल्याणकारी उपदेश अथवा तत्त्वज्ञान जो प्राप्त किया है, उसी के चिन्तन, मनन, अध्ययन, सत्समागम, चर्चा वार्ता में ही उपयोग लगा रहे, वह तो एकान्त का प्रेमी हो जाता है, उसे अकेलापन अच्छा लगने लगता है, क्योंकि संसारी जीव बिना मतलब की बातों में मेरे उपयोग को फंसायेंगे अतः उनसे बचने की चेष्टा करता है। उसको तो पाँचों इन्द्रियों के विषय भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। फलतः उसका तो जीवन ही ज्ञान-वैराग्यमय हो जाता है। अन्याय पूर्ण वर्तन एवं अभक्ष्यरूप खानपान तो प्रायः समाप्त ही हो जाता है। नाटक समयसार निर्जराद्वार के छंद ४१ में कहा है —

ग्यान कला जिनके घटजागी। ते जगमांहि सहज वैरागी॥
ग्यानी मगन विषय सुखमाहीं। यह विपरीत संभवे नाहीं॥ ४१ ॥

विषय भोगों के प्रति एवं भोगों का आलंबन यह शरीर उसके प्रति, भी उपेक्षाबुद्धि वर्तने लगती है। आत्मा का अनुभव प्राप्त करने की ही धुन लगी रहती है। कभी अपने उपयोग को परिवर्तन करने के लिए

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अंतरंग में भक्ति उछलती है तो उनकी भक्ति पूजा आदि में अपने उपयोग को लगाता है, लेकिन आत्मा से दूर कर देने वाले कारणों में, अपने उपयोग को नहीं फंसने देने के लिए निरन्तर चेष्टावान रहता है, ऐसा जीव ही, यथार्थतः आत्मा की अन्तरंग स्थिति का अनुसंधान करने के लिए उपयोग को स्वलक्ष्यी कर, अनुसंधान करता रहता है। वह अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण एवं एकाग्र करके, अंतरंग में उत्पन्न ऐसे विपरीत कारणों को ढूँढ़कर निकाल लेता है, जिनका अभाव करके उसका उपयोग आत्मा में अभेद हो सके और चिरकाल तक आत्मशांति प्राप्त कर सके।

ऐसे आत्मार्थी-जीव को चारों भागों के अध्ययन कर लेने पर भी एक प्रश्न खड़ा रह जाता है कि आत्मा के अन्दर होने वाले विकारी एवं निर्विकारी भावों का द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव चारों तो आत्मा ही हैं। आत्मा के भाव, आत्मा के अतिरिक्त अन्य में हो भी कैसे सकते हैं? कुछ भी हो, वे हैं तो आत्मा की ही पर्यायें। अतः उनको भी आत्मा से भिन्न कैसे समझा जावे?

दूसरी ओर से विचार करते हैं तो यह भी सत्य है कि अनित्य एवं विकारी एवं निर्विकारी भावों के स्वभाव, आत्मा के नित्य स्वभाव से विपरीत हैं और इन विकारी भावों का तो कालान्तर में नाश भी हो जाता है ? तो भी मैं तो वैसा ही कायम रहता हूँ। अतः दोनों में भावभेद होने से तथा उनका क्षण-क्षण में नाश होने से, वे मेरे से भिन्न होना भी चाहिए। अतः इस शंका को निर्मूल करने हेतु आत्मार्थी अनुसंधान करने में अपने उपयोग को लगा देता है। ऐसे आत्मार्थी की उपरोक्त समस्या के समाधान हेतु इस भाग-५ में अनुसंधान करने का प्रयास होगा, अतः पात्रतापूर्वक तीव्र रुचि के साथ इस ही दृष्टि से आत्मार्थी को इसका अध्ययन करना चाहिए।

***

द्रव्य में पर्याय की स्थिति

द्रव्य और पर्याय में अभिन्नता

प्रश्न होता है कि द्रव्य और पर्याय दोनों अभिन्न हैं क्योंकि दोनों एक ही सत् हैं। द्रव्य और पर्याय दो अलग-अलग सत् नहीं हैं। तत्वार्थ सूत्र में कहा भी है :—

"सत् द्रव्यलक्षणं, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्"

अर्थात् गुण और पर्यायों की अभिन्न सत्ता का स्वामी द्रव्य है और वह द्रव्य ही स्वयं उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवता युक्त सत् है और वही द्रव्य का लक्षण है। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ये सब मिलकर सम्पूर्ण एक ही पदार्थ है और वह सत् है। ऐसी स्थिति में द्रव्य और पर्याय, एक दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले अर्थात् द्रव्य तो नित्य स्वभावी एवं पर्याय अनित्य स्वभावी होने पर भी, एक ही सत् के दोनों अंग हैं; उनको भिन्न करना तो अशक्य ही लगता है। अतः पर्याय की द्रव्य से तो अभिन्नता ही सिद्ध होती है ?

दूसरी दृष्टि से देखें तो बिना पर्याय के द्रव्य कहीं देखने में भी नहीं आता और पर्याय भी द्रव्य के बिना कहीं भी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह द्रव्य स्वयं ही, उत्पाद व्यय रूप परिणमता है। अतः अलग-अलग अस्तित्व होना संभव भी नहीं है। इससे भी द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता ही सिद्ध होती है। इस अभिन्नता को सिद्ध करने वाले निम्न आगम वाक्य भी उपलब्ध है :—

पंचाध्यायी द्रव्य अधिकार का श्लोक ८९

अर्थ— "जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है, उसीप्रकार वह परिणमनशील भी है। इसके लिए यह सत्, नियम से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है।"

पञ्चास्तिकाय संग्रह की गाथा ४ की टीका

टीका— "वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सामान्य विशेष सत्ता में नियत-व्यवस्थित निश्चित, विद्यमान होने से सामान्य विशेष अस्तित्व भी है ऐसा निश्चित करना चाहिए। वे अस्तित्व में नियत होने पर भी अस्तित्व से अन्यमय नहीं हैं, जिसप्रकार बर्तन में रहने वाला घी बर्तन से अन्यमय है उसी प्रकार, क्योंकि वे सदैव अपने से निष्पन्न अर्थात् अपने से सत् होने के कारण अस्तित्व से अनन्यमय है। जिसप्रकार अग्नि उष्णता से अनन्यमय है उसी प्रकार।"

प्रवचनसार की गाथा १०१ की टीका

टीका :— "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तव में पर्यायों का अवलंबन करते हैं, अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों के आश्रय से हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं इसलिए यह सब एकही द्रव्य हैं, द्रव्यांतर नहीं।"

समयसार गाथा ३०८-३०९ का अर्थ

अर्थ :— "जो द्रव्य जिन गुणों से, पर्यायों से उत्पन्न होता है उन गुणों से उसे अनन्यजानों जैसे जगत् में कड़ा इत्यादि पर्यायों से सुवर्ण अनन्य है वैसे ॥ ३०८ ॥

जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानों ॥"

इसप्रकार उपरोक्त आगम आधारों से भी यह सिद्ध है कि द्रव्य और पर्यायों की ऐसी अभिन्नता है कि उन को अन्य द्रव्यों की भाँति भिन्न नहीं किया जा सकता।

प्रश्न : — जीव का अजीव से भिन्न मानना, एक परमाणु से अन्य पुद्गल परमाणु का भिन्न मानना, कोई कठिन कार्य नहीं लगता, क्योंकि उनके प्रदेश अलग-अलग हैं। जिनके प्रदेश् ही अलग हैं, उनको भी

अभिन्न मानना तो वास्तव में भूल ही थी। वे वास्तव में भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, उनको अभिन्न मान लेने से तो वे अभिन्न नहीं हो सकते। अतः उनको भिन्न मानना कठिन कार्य नहीं लगता। इसी प्रकार ज्ञान से भी ज्ञेयों को भिन्न मानना कठिन कार्य नहीं लगता, क्योंकि सत् लक्षण वाले वे स्वतंत्र द्रव्य हैं। लेकिन आत्मा की पर्यायों की स्थिति तो उनके समान नहीं है। द्रव्य और पर्यायों के प्रदेश तो एक ही हैं। अतः इनमें भिन्नता मानना तो असंभव ही लगता है?

द्रव्य और पर्याय का क्षेत्र एक होते हुए भी भाव भिन्नता तो विद्यमान है

समाधान इस प्रकार है :— उपरोक्त कथन में इतनी तो सत्यता अवश्य है कि द्रव्य और पर्याय का द्रव्य एक ही है तथा क्षेत्र भी एक ही है, इतना ही नहीं, पर्याय के परिणमन काल में ही द्रव्य ध्रुवरूप विद्यमान भी रहता है, अतः काल भी एक ही है। इतना सब कुछ होने पर भी, द्रव्य और पर्याय की भाव भिन्नता अवश्य रहती है। जैसे द्रव्य नित्य स्वभावी है लेकिन पर्याय अनित्य स्वभावी है। अतः भावों की अपेक्षा दोनों के भाव अत्यन्त विपरीत हैं, और यह विपरीतता हर समय के परिणमन में चालू ही रहती है, फिर भी द्रव्य, क्षेत्र काल तो एक ही रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य और पर्याय के भाव भिन्नता होते हुए भी एक ही क्षेत्र में रहने में कोई विरोध नहीं है, अर्थात् असंभव नहीं है। आत्मा से अन्य द्रव्यों की भिन्नता के समान, द्रव्य और पर्याय में भिन्नता नहीं है, लेकिन भिन्नता तो अवश्य है, उसे किसी भी अपेक्षा स्वीकार तो करनी ही पड़ेगी। अपने से अन्य द्रव्यों के समान, पर्याय के प्रदेश, क्षेत्र अपेक्षा भिन्न करना संभव नहीं हो सके फिर भी प्रदेशों के एक ही क्षेत्र में रहते हुए भी भिन्न समझा तो जा ही सकता है। जैसे एक वयस्क बालिका अपने पिता के घर को द्रव्य, क्षेत्र, कालभाव सभी प्रकार से अभी तक, अपना ही घर मानती है, कहती है तथा उसी प्रकार का व्यवहार भी करती

है। लेकिन उसी बालिका का जब किसी के साथ मात्र संबंध ही निश्चित हुआ हो अर्थात् सगाई हो गई हो तो, सगाई होते ही वह बालिका अपने होने वाले वर के घर को अपना घर मानने लगती है और अपने पिता के घर को पर का घर मानने लग जाती है। अभी तो उस बालिका के द्रव्य, क्षेत्र, काल सब वैसे-के वैसे ही, जैसे के तैसे ही हैं, उसका द्रव्य, क्षेत्र काल, अभी कुछ भी नहीं बदला है, लेकिन भावों में परिवर्तन हो गया अर्थात् मान्यता में भिन्नता आ गई। उसी प्रकार आत्मा के संबंध में भी समझना चाहिए कि क्षेत्र एक होने पर भी, भावों में भिन्नता होना एवं उनको भिन्न समझा जाना तो संभव ही है। उपरोक्त सभी चर्चा से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य और पर्याय में भाव भिन्नता है, यह तथ्य स्वीकार करना ही चाहिए। जब भिन्नता है तो भिन्नता मानना क्यों नहीं हो सकता है? चाहे क्षेत्र अपेक्षा भिन्न करना संभव नहीं हो तो भी भिन्नता तो अवश्य मानी ही जा सकती है। अतः भिन्नता मानकर अपना प्रयोजन सिद्ध करने का उपाय तो अवश्य करना ही चाहिए।

भाव भिन्नता भी मात्र अशुद्धजीव को ही होती है?

जीव के स्वभाव की अपेक्षा विचार करें तो जब शुद्ध आत्मा के द्रव्य और पर्याय के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव एक से ही रहते हैं तो हर एक आत्मा के भी द्रव्य और पर्याय के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एक जैसे ही रहने चाहिए, यह तो वस्तु का स्वभाव है। एक जीव द्रव्य के अतिरिक्त, अन्य किसी भी द्रव्य के द्रव्य-पर्यायों के भावों में भिन्नता नहीं होती तथा शुद्ध जीवद्रव्य अर्थात् सिद्ध भगवान में भी भाव भिन्नता नहीं होती। लेकिन मात्र एक अशुद्ध जीव में ही भाव भिन्नता रहती है। वह भी कब तक रहती है, कि जब तक वह अशुद्ध रहता है तब तक ही रहती है।

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि स्वभाव में तो हर एक द्रव्य अनन्तकाल तक रह सकता है लेकिन अपने स्वभाव से विपरीत दशा में ज्यादा काल नहीं रह सकता। जैसे पानी ठंडी अवस्था में अनन्तकाल

तक रहता है लेकिन गरम हालत में तो ज्यादा काल रह ही नहीं सकता। उसीप्रकार भाव भिन्नता भी अस्वाभाविक है, इसलिए जब तक जीव अशुद्ध दशा में रहता है, तभी तक भाव भिन्नता रहती है। अशुद्धता समाप्त होते ही भाव-भिन्नता भी समाप्त होकर, जीव के द्रव्य और पर्याय दोनों द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, चारों ही प्रकार से, द्रव्य जैसे ही हो जाते हैं। अशुद्धता में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल तो द्रव्य के समान रहते हैं लेकिन मात्र भावों में ही अर्थात् पर्याय के अनुभाग में ही भाव भिन्नता रहती है, द्रव्य जैसी पर्याय नहीं परिणमती। फलतः जब तक भाव-भिन्नता विद्यमान रहती है तब तक जीव की दशा अशुद्ध है और तब तक ही संसार है। अतः संसार का अभाव करने के लिए पर्याय के स्वरूप को समझकर इस भाव भिन्नता को समाप्त करना ही, हमारा कर्तव्य है, इस ही से परमशांति की प्राप्ति संभव है।

भाव-भिन्नता समझने का लाभ क्या ?

प्रश्न होता है कि भाव-भिन्नता होते हुए भी, जब भिन्न किये ही नहीं जा सकते तो उनमें भी भिन्नता समझने का प्रयास, मात्र बुद्धि का व्यायाम जैसा लगता है। अतः यह समझ में आना चाहिए कि ऐसा करने से लाभ क्या होगा?

समाधान :— उपरोक्त भिन्नता समझने को बुद्धि का व्यायाम मानना ही बड़ा अज्ञान है। वास्तव में इस भिन्नता को नहीं समझना ही संसार की जड़ है, भूल है। क्योंकि हमारा एवं हर-एक जीव मात्र का द्रव्य स्वभाव तो हर समय अरहंत के समान पूर्ण शुद्ध एवं परिपूर्ण है। लेकिन वर्तमान में, संसारी अशुद्ध आत्मा को, वह द्रव्य ही पूरा का पूरा पर्याय जैसा ही, अशुद्ध विकारी दीनहीन ही अनुभव में आ रहा है। ऐसी स्थिति में, अगर हमको स्वयं अरहंत बनने की भावना जाग्रत हुई है तो, जब तक हमको इस भाव-भिन्नता का अस्तित्व ही आत्मा में मान्य नहीं होगा तब तक, इस के अभाव करने का पुरुषार्थ ही कैसे जाग्रत होगा?

ऐसी स्थिति में संसार का अभाव करना कैसे संभव होगा? इसलिए इस विषय को बहुत महत्वपूर्ण समझा जाकर, संसार का मूल कारण मानकर, रुचिपूर्वक गंभीरता से समझना चाहिए।

इतनी बात अवश्य है कि जिसप्रकार अन्य द्रव्यों को अपने द्रव्य से भिन्न किया जा सकता है, उसी प्रकार, पर्याय को द्रव्य में से निकाल कर अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन पर्याय से भिन्नता मानने के लिए तो, पर्याय के प्रति हितबुद्धि, ममत्व बुद्धि, सुखबुद्धि मानना अवश्य छोड़ा जा सकता है। यथार्थतः मैं द्रव्य तो नित्य स्वभावी हूँ, लेकिन यह पर्याय तो मेरे स्वभाव से विपरीत अनित्य स्वभाव वाली है। अतः उस से मित्रता रखने से, ममत्व रखने से तो स्वभाव की ही विराधना होगी, ये तथ्य गंभीरतापूर्वक श्रद्धा में दृढ़तापूर्वक आ जावें तो मेरी पर्याय से मित्रता टूट सकती है। यह एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। क्योंकि अपने दुश्मन से प्रेम करने से तो अपने अस्तित्व का ही नाश हो जाने की संभावना रहती है। अतः द्रव्य स्वभाव को एवं पर्याय स्वभाव को गंभीरता एवं रुचिपूर्वक समझना चाहिए।

द्रव्य का परिचय नहीं होने से मैं, अपने आपका अस्तित्व, पर्याय जितना ही और जैसा ही मानता चला आ रहा हूँ। पर्याय अनित्य स्वभावी होने से, मैं भी हर क्षण, जीवन व मृत्यु, उत्पाद व्यय का ही वेदन करता हुआ दुःखी-दुःखी ही अनुभव करता चला आ रहा हूँ। क्योंकि वेदन तो पर्याय का ही होता है। पर्याय में अहंपना होने से, हर एक पर्याय को अविनाशी बनाये रखने की चेष्टा होना तो स्वाभाविक ही है, लेकिन उसका स्वभाव ही नाशवान होने से उसका दूसरे समय भी बने रहना असंभव है, फलतः निरन्तर आकुलता का वेदन करता हुआ दुःखी ही होता रहता है।

पर्याय का वेदन अपने में विद्यमान होते हुए भी, द्रव्य स्वभाव को समझकर, अपने आपको नित्य स्वभावी मान तो सकता ही है।

उत्पाद-व्ययरूपी अनित्यता को गौण करके, उसके पीछे जो नित्य स्वभाव छुपा हुआ है, उसको श्रद्धा में तो व्यक्त कर ही सकता है, अर्थात् अपने आपका अस्तित्व, नित्यस्वभावी द्रव्यरूप तो मान ही सकता है। ऐसी मान्यता के फलस्वरूप, हर समय अनित्य का वेदन विद्यमान रहते हुए भी, उसकी उपेक्षा कर, अपने आपको नित्य स्वभावी मानकर, पर्याय के हर समय के उत्पाद-व्यय में, अपना जीवन-मरण नहीं मानता हुआ, अपने अविनाशी स्वभाव में, अहंपने की श्रद्धा के कारण आकुलित नहीं होकर शांति का वेदन तो कर ही सकता है। द्रव्य स्वभाव एवं पर्याय स्वभाव की यथार्थ समझ द्वारा, उपरोक्त सबसे महान उपलब्धि प्राप्त होती है।

भाव-भिन्नता की समझ ही भेद ज्ञान का आधार है

भेद ज्ञान का मूल उद्देश्य है कि दो मिली हुई वस्तुओं में, भेद समझकर, किसी एक में स्वपने का निर्णय करना। वर्तमान में हमारा प्रयोजन तो मात्र हमारे आत्मा को समझना है। वस्तुपने से तो पर्याय से भिन्नता हो नहीं सकती लेकिन एक ही पदार्थ में अत्यंत विपरीत स्वभाव वाला दोपना तो विद्यमान है ही। द्रव्य तो नित्य स्वभावी है और पर्याय अनित्य स्वभावी है और दोनों के स्वभाव एक दूसरे से अत्यन्त विपरीत स्वभावी हैं। जगत के सभी द्रव्यों का एक अद्भुत आश्चर्यकारी स्वभाव है कि प्रदेश अभिन्न होने पर भी एक ही पदार्थ में एक ही समय में विपरीत भाव निरंतर विद्यमान रहते हैं।

आत्मार्थी की यह भारी कठिनाई है कि वह विपरीत स्वभावों वाले पदार्थ में मेरापना किसमें माने व कैसे माने? विपरीत स्वभाव वाली दो स्थितियों में से, मैं तो एक प्रकार की स्थिति वाला ही तो हो सकता हूँ? अतः मुझे तो मेरा अस्तित्व निश्चय करने के लिए मेरे में विपरीत स्वभाव विद्यमान होते हुए भी, उनमें से किसी एक स्वभाव में तो मेरा अस्तित्व मानना ही पड़ेगा ? इसलिए मुझे तो दोनों का स्वरूप समझकर, दोनों में भेदज्ञान करना अनिवार्य हो जाता है।

कठिनता यह भी है कि भिन्न प्रदेश वाले पदार्थों में से किसी एक को भिन्न समझना तो सरल है, कारण दोनों का आपस में अत्यन्ताभाव है। लेकिन आत्मपदार्थ में तो उन ही प्रदेशों में, नित्य स्वभाव एवं अनित्य स्वभाव दोनों, एक साथ ही विद्यमान हैं। उनमें भिन्नता समझना कठिन अवश्य लगता है। ऐसी कठिन समस्या का ही आचार्य श्री समाधान करते हैं कि कठिन लगने पर भी, अशक्य नहीं है, कारण भिन्नता विद्यमान है। जब वास्तव में भिन्नता है ही तो, भिन्नता को समझना असंभव कैसे हो सकता है ? भिन्नता को समझे बिना अन्य कोई उपाय नहीं है। इन दोनों परस्पर विपरीत स्थितियों में से मैं अपना अस्तित्व किस रूप मानूं? अतः अपने आपके अस्तित्व का निर्धारण करने के लिए मुझे तो इन दोनों का भेदज्ञान करके, अपना अस्तित्व खोजना ही पड़ेगा।

भिन्नता समझने का मूल आधार कौन ?

उपरोक्त दोनों स्वभावों में से किसी एक में अपना अस्तित्व निर्धारण करने के लिए, दोनों स्वभावों का वास्तविक अध्ययन किया जाकर, अपने विवेक से निर्णय करना ही पड़ेगा कि दोनों में से कौनसा स्वभाव, स्व के रूप में माना जाने योग्य है।

प्रथम तो यह समझना चाहिए कि सामान्य रूप से उपरोक्त दोनों स्वभाव तो छहों जाति के समस्त द्रव्यों में, एक जैसे ही अनादि से चले आ रहे हैं, अनन्त काल तक अनवरत रूप से चलते ही रहेंगे। उन सब में मेरे लिए प्रयोजनभूत तो, अकेली मेरी आत्मा ही है, जिसके दुख-सुख का वेदन मुझे अनुभव में आता है। अतः अपने आत्मा के ही नित्य एवं अनित्य दोनों स्वभावों का अध्ययन किया जाकर, दोनों में से कौन से स्वभाव वाला मैं हूँ अर्थात् किस रूप मेरा अपना अस्तित्व मानने योग्य है? यह निर्णय करना ही सुखी होने का उपाय है।

अपने ही आत्मा में विद्यमान दोनों स्वभावों का अध्ययन

शास्त्र में उपरोक्त परिस्थितियाँ बताई गई हैं, इस ही लिए स्वीकार कर लेने से मेरी श्रद्धा में परिवर्तन नहीं हो सकता, अत: मेरे अनुभव के आधार पर मुझे समझना पड़ेगा, तब ही मेरी श्रद्धा परिपक्व हो सकेगी।

जब अपने ही अनुभव के आधार पर विचार करते हैं तो इस दृष्टान्त के माध्यम से विचार किया जावे कि मान लीजिए अभी हमारी उम्र ५० वर्ष की है तो इस ५० वर्ष के जीवनकाल में कितने व्यक्तियों के साथ मित्रता के भाव हुए और कितने व्यक्तियों के साथ शत्रुता के भाव हुए। जिनसे शत्रुता के भाव थे कालांतर में उनके साथ मित्रता भी हो गई होगी और जिनके साथ मित्रता थी उनके साथ शत्रुता के भाव भी हो गये होंगे। इन परिवर्तनों के जो कुछ भी कारण बने थे वे तथा उस शत्रुता अथवा मित्रता के काल में उन व्यक्तियों के साथ जो-जो भी शत्रुता और प्रेम के भाव हुए हों, वे सारे के सारे भाव तो, वर्तमान में कहीं भी अस्तित्व में नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ५० वर्ष के काल में जितने भी अनेक प्रकार के भाव हुए थे वे सब स्थाई नहीं थे, नाशवान् थे । उनका जीवनकाल उस समय मात्र का ही था, इस ही कारण वे नष्ट भी हो गए। अत: वे आत्मा की अनित्य स्वभाव की स्थिति को सिद्ध करते हैं। जो भाव होकर नष्ट हो गये उनको वैसा का वैसा ही वापस करना चाहे तो वे हो नहीं सकते। इससे सिद्ध होता है कि उनका उस समय मात्र ही अस्तित्व था। लेकिन जिसमें वे भाव हुए थे वह तो "मैं" वहीं का वहीं हूँ, मैं तो उन भावों के होने के पहिले भी था और वे भाव होकर नष्ट भी हो गये तो भी "मैं" तो वही का वही विद्यमान हूँ। यह स्थिति मेरे स्थाई नित्य स्वभाव को भी सिद्ध करती है। इससे सिद्ध होता है कि जिसमें वे अनित्य स्वभाव उत्पन्न होकर विनष्ट भी हो गए, ऐसा नित्य स्वभाव वाला "मैं" भी,

उसी समय साथ-साथ मौजूद रहा हूँ। इसप्रकार हमारे अनुभव के आधार से भी यह स्पष्ट समझ में आता है कि मेरा अनादि अनन्त नित्य-स्वरूप अस्तित्व रहते हुए भी, मैं हर समय पलटता भी रहता हूँ। मेरा अस्तित्व तो अनादि अनन्त नित्य-ध्रुव स्वभावी ही है। ध्रुव स्वभाव विद्यमान रहते हुए भी, अनित्य-उत्पाद-व्यय स्वभावी पर्याय हर समय पलटती हुई रहने पर भी "मैं" स्वयं तो विद्यमान रहता ही हूँ।

अब आगम के आलोक में भी इस विषय को समझकर दृढ़ करेंगे। आत्मा का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यात्मक हर समय ही है, इस सिद्धांत के समर्थन में निम्न आगम प्रमाण प्रस्तुत है :—

१. तत्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र २९ - सद्द्रव्यलक्षणं ॥ २९ ॥

तत्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३० - उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ :— द्रव्य का लक्षण सत्ता अर्थात् अस्तित्व है और सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होती है ॥ २९-३० ॥

२. पञ्चाध्यायी पूर्वार्ध श्लोक ८६

अर्थ :— जिसप्रकार उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय इन तीनों से युक्त सत् ही द्रव्य का लक्षण है, और वह सत् तीनों से युगपत् युक्त मानने पर ही सिद्ध होता है परन्तु अलग-अलग मानने से सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥

३. समयसार गाथा २ की टीका

वह जीव पदार्थ सदा ही परिणामस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति लक्षण युक्त सत्ता सहित है।

४. पञ्चास्तिकाय संग्रह गाथा ९० का अर्थ —

जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

प्रवचनसार गाथा १०२ का अर्थ –

द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, स्थिति और नाश नामक अर्थों पदार्थों के साथ वास्तव में समवेत एकमेक है, इसलिए यह त्रिनय वास्तव में द्रव्य है ॥ १०२ ॥

इसप्रकार उपरोक्त आगम प्रमाणों से भी सिद्ध है कि मेरे आत्मा का अस्तित्व ही इसप्रकार का है कि नित्य भाव एवं अनित्य भाव दोनों प्रकार के भावों रूप ही उसकी सत्ता है।

जिनका अस्तित्व ही अभिन्न है, उनको भिन्न कैसे किया जा सकेगा?

प्रश्न है कि जब द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व ही एक है, तो उनको अलग कैसे किया जा सकेगा ? जिनके द्रव्य एक, क्षेत्र अर्थात् प्रदेश एक, तथा दोनों का परिणमन भी एक है, उनको अलग कैसे किया जा सकेगा? लेकिन जिनवाणी में उनको भिन्न कहकर, उनमें भी भेदज्ञान करने का आदेश दिया है।

जिनवाणी में भेद का ज्ञान करने का तो बताया है, लेकिन वस्तु में से निकालकर, अलग करने का तो नहीं बताया। भावों में भिन्नता होने से अर्थात् नित्य से अनित्य विपरीत भाव होने से दोनों एक भी कैसे माने जा सकते हैं ? इससे ऐसा भी विश्वास में आता है कि दोनों की एक सत्ता होते हुए भी भिन्नता भी विद्यमान तो है। अतः एक साथ विरुद्ध भावों की सत्ता एक ही पदार्थ में विद्यमान है। अतः जब सत्ता एक है तो अलग-अलग कैसे किये जा सकेंगे ? एक ही सत्ता के दोनों अंश हैं, अतः अंश अंशी से कभी किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं किया जा सकता। फिर भी इस समस्या का समाधान निम्न प्रकार समझना चाहिए।

अभिन्न द्रव्य-पर्याय को भिन्न करना अशक्य, लेकिन भिन्न समझना शक्य है

यह एक महान् उपलब्धि है कि आत्मा तो अकर्ता स्वभावी है। अतः उसके द्वारा कुछ भी कार्य करने का अथवा कराने का विचार रखना तो कल्पना मात्र है, असंभव है, आकाशकुसुमवत् है। आत्मा छहों द्रव्यों से तो भिन्न प्रदेश वाला है ही, भिन्न प्रदेश होने से तो सब प्रकार से भिन्न ही है। लेकिन उनसे भी आत्मा को भिन्न तो नहीं किया जा सकता? भिन्न समझा ही तो जाता है। शरीर से आत्मा सब प्रकार से भिन्न है। दोनों के द्रव्य, क्षेत्र काल भाव सभी तो भिन्न हैं। यह सब जानते हुए भी, आत्मा उनको भिन्न तो नहीं कर पाता, अपने ज्ञान श्रद्धान में मात्र यह निर्णय कर लेता है कि ये मेरे से भिन्न हैं; मेरे नहीं हैं। आत्मा तो मात्र ज्ञान स्वभावी ही है। अतः यह निर्णय तो अपने ज्ञान में कर लेता है कि शरीर मेरे से भिन्न है, लेकिन भिन्न प्रदेश होने पर भी उसको भिन्न तो नहीं कर सकता। इसका प्रमाण भगवान अरहंत का आत्मा है। वे शरीर को भिन्न मानते हुए भी शरीर को भिन्न नहीं कर पाते ? क्योंकि सब द्रव्य स्वतंत्र हैं, सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के कर्ता हैं, वे दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के परिणमन काल में, स्वयं के कारण स्वयं ही अलग होंगे। आत्मा का शरीर में और शरीर परमाणुओं का आत्मा में प्रवेश ही नहीं है, अतः एक दूसरे को कैसे अलग कर सकेंगे। तात्पर्य यह है कि चाहे भिन्न पदार्थ हों अथवा अभिन्न पदार्थ हों, सब में भिन्नता, मात्र समझी ही जाती है, लेकिन किसी को भी भिन्न कर देने का सामर्थ्य आत्मा में भी नहीं हैं। अतः द्रव्य और पर्याय के अभिन्न प्रदेश होते हुए भी, भाव भिन्नता तो विद्यमान है ही। इसलिए वे एक तो हो ही नहीं सकते, फलतः इनमें भी भिन्नता है। इस तथ्य को भी मात्र समझना ही तो है। अतः ऐसी शंका निरर्थक है कि अभिन्न प्रदेश होने से भिन्नता नहीं हो सकती। जिसप्रकार अन्य द्रव्यों से आत्माको भिन्न समझा गया उसीप्रकार द्रव्य और पर्याय की भिन्नता भी समझी जा सकती है। भिन्नता समझने के लिए भिन्न करना आवश्यक नहीं होता। इतनी बात अवश्य है कि

भिन्न प्रदेशवाले द्रव्यों की भिन्नता समझने में सरलता लगती है और अभिन्न प्रदेशों वाले द्रव्य पदार्थों में, भिन्नता समझने के लिए बुद्धि को विशेष उग्र करना पड़ेगा।

इस संबंध में पं. दौलतराम जी ने छहढाला की छठवीं ढाल में कहा है कि —

'जिन परम पैनी सुबुद्धि छैनी डार अंतर भेदिया।
वरणादि अरू रागदि तें निजभाव को न्यारा किया॥'

इसीप्रकार का भाव आचार्य श्री अमृतचंद देव ने समयसार के कलश १८१ में वर्णन किया है :—

"यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनीप्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से सावधानतया पटकने पर, आत्मा और कर्म-दोनों के सूक्ष्म अंतरंग संधि के बंध में शीघ्र पड़ती है। किसप्रकार पड़ती है ? वह आत्मा को तो जिसका तेज अंतरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई और बंध को अज्ञान भाव में निश्चित करती हुई - इसप्रकार आत्मा और बंध को सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।"

उपर्युक्त आगम वाक्यों से भी स्पष्ट है कि द्रव्य और पर्याय के प्रदेश अभिन्न होते हुए भी भेद समझना शक्य है लेकिन वह रुचि एवं बुद्धि को तीक्ष्ण करने से ही संभव हो सकता है।

नयज्ञान की मोक्षमार्ग में उपयोगिता

भिन्नता समझने के लिए नयज्ञान अत्यन्त आवश्यक है

अभिन्न वस्तु में भी भिन्नता समझना अर्थात् अभेद वस्तु को भी भेद करके समझने की प्रणाली का ही नाम "नयज्ञान" है। नयज्ञान कोई कठिन अथवा विद्वानों के जानने का ही विषय नहीं है, वरन् किसी भी

वस्तु को, जिसमें भेद नहीं किया जा सके, उसमें भी भेद करके समझना, यह नयज्ञान की उपयोगिता है।

तत्वार्थ सूत्र अध्याय १ के सूत्र ६ में कहा है :—

"प्रमाण नयैरधिगम :" ॥ ६ ॥

प्रमाण और नयों से वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है। प्रमाण द्वारा ग्रहण की हुई, अभेद वस्तु को भेद करके समझना अर्थात् ज्ञान में लेने का उपाय ही "नयज्ञान" है।

इसी प्रकार बड़े नयचक्र ग्रंथ, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की गाथा २६६ में कहा है कि :—

"तत्त्व के अन्वेषण का जो काल उसमें समय अर्थात् आत्मा को युक्ति अर्थात् नय-प्रमाण द्वारा पहिले जाने, पश्चात् आराधना अर्थात् अनुभव काल में तो, प्रत्यक्ष अनुभव है, नय-प्रमाण नहीं है॥ २६६ ॥

उपरोक्त आगम प्रमाणों का तात्पर्य यह है कि अभेद वस्तु है वह प्रमाण ज्ञान का विषय है। अरहंत भगवान का ज्ञान प्रमाण ज्ञान है। वस्तु अर्थात् आत्मा में तो नित्यपक्ष और अनित्य पक्ष दोनों पक्ष एक साथ ही हर समय विद्यमान हैं। अतः जैसी वस्तु है उस समग्र को एक साथ जाने वही ज्ञान पूर्ण एवं सच्चा है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है इसलिए अरहंत का ज्ञान सच्चा अर्थात् सम्यग्ज्ञान है, वही प्रमाण है।

उस ज्ञान का विषय तो सामान्य विशेषात्मक समग्र वस्तु होती है। उस समग्र वस्तु को जानने वाले ज्ञान को ही प्रमाण ज्ञान कहते हैं। ज्ञानीछद्मस्थ को भी समग्र वस्तु की यथार्थ श्रद्धा होने के कारण उसका ज्ञान भी परोक्ष रूप से समग्र वस्तु को जानता है। अतः उसका ज्ञान भी सम्यक् होता है। इतना विशेष है कि अरहंत का ज्ञान उस वस्तु को प्रत्यक्ष जानता है और ज्ञानी उसी को परोक्ष जानता है।

उपरोक्त प्रमाण ज्ञान से ग्रहण की गई वस्तु में, सामान्य अर्थात् नित्य भाव एवं विशेष अर्थात् अनित्य भाव, दोनों विपरीत भाव एक साथ विद्यमान हैं। लेकिन वह हम छद्मस्थ जीवों के ज्ञान का विषय एक साथ नहीं बन सकता। इसलिए जब नित्य पक्ष को जानेगा तो अनित्य पक्ष रह जावेगा और जब अनित्य पक्ष को जानेगा तो नित्य पक्ष रह जावेगा। अज्ञानी को अनादिकाल से वस्तु की पहिचान ही नहीं होने से वस्तु का अज्ञान है। उस अज्ञान को दूर करने के लिए समग्र वस्तु के स्वरूप को पहचानने-समझने के लिए क्रम-क्रम कर दोनों पक्षों के द्वारा उस अभेद वस्तु को ही समझना पड़ेगा।

उक्त दोनों पक्षों को क्रमशः जानने की पद्धति का नाम ही नयज्ञान है। नित्यपक्ष को जानने वाले ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। अनित्य पक्ष को जानने वाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा गया है। ज्ञानी का ज्ञान सहज रूप से नयज्ञान रूप ही परिणमने लगता है। क्योंकि उसका ज्ञान तो समग्र वस्तु को परोक्ष रूप से जानने वाला ही रहता है। लेकिन अज्ञानी इस ही नयज्ञान से, ज्ञानी बनने तक वस्तु स्वरूप को समझने के लिए इसका उपयोग करता है अर्थात् इस ही नयज्ञान के द्वारा समग्र वस्तु का स्वरूप, क्रमक्रम से समझकर यथार्थ निर्णय करता है।

इस संबंध में कतिपय आगम प्रमाण निम्नप्रकार हैं :—

प्रमाण का स्वरूप आलापपद्धति सूत्र ३४

"सम्यग्ज्ञानप्रमाणं" ॥ ३४ ॥

अर्थ :— सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

"सकलादेशग्राहिज्ञानंप्रमाणं"

अर्थ :— वस्तु के सामान्य विशेष आदि परस्पर विरोधी सकल अंशों को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं।

प्रमाण का विषय परीक्षामुख अध्याय ४ सूत्र।

"सामान्य-विशेषात्मातदर्थो विषयः"

अर्थ :— सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप पदार्थ प्रमाण का विषय होता है।

प्रमेय का स्वरूप

स्याद्वादमजंरी अध्याय १०

"द्रव्य-पर्यायात्मक-वस्तु-प्रमेयम्"

अर्थ :— द्रव्य-पर्याय-रूप-वस्तु ही प्रमेय है।

प्रत्यक्षज्ञान

आलापपद्धति सूत्र ३७ "केवल-सकल-प्रत्यक्षं" केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

परोक्ष-ज्ञान

आलापपद्धति ३८ "मतिश्रुतयेपरोक्षे" मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान है।

नयज्ञान क्या है ?

आलापपद्धति सूत्र ३९ "तद्वयवा : नयाः" प्रमाण के अवयव नय है। राजवार्तिक अ. । सूत्र-३३ "प्रमाण प्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नयः"

अर्थ :— प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करने वाला नय है।

नयों के भेद

द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र गाथा १८२

"णिच्छयववहारणयामूलभेया णचाणसव्वाणं।

णिच्छयसा हणहेऊं पज्जयदव्वतित्थयं मुणह॥" ॥ १८२ ॥

अर्थ :— नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यावहारनय पर्यायाश्रित है; ऐसा समझना चाहिए। ॥ १८२ ॥

इस विषय को विस्तार से समझने के लिए पाठकगणों को इसी पुस्तक श्रृंखला में सुखी होने का उपाय भाग-२ के "प्रमाण नयरधिगमः'

प्रकरण जो पृष्ठ ९६ से प्रारंभ होता है उसको, एवं भाग ३ के "नयज्ञान एवं उसकी उपयोगिता" प्रकरण जो पृष्ठ ४७ से प्रारंभ होता है तथा, उसी भाग के निश्चयनय एवं व्यवहारनय वाला प्रकरण जो पृष्ठ ८८ से प्रारंभ होकर १०८ तक चलता है। संपूर्ण विषय को यथार्थ वस्तु स्वरूप समझने के लिए, नयों की उपयोगिता पूर्ण मनोयोग पूर्वक समझना चाहिए। विस्तारभय से यहाँ इस विषय की पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

इसप्रकार उपरोक्त सभी अध्ययनों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि द्रव्य पर्यायात्मक अभिन्न वस्तु को समझने के लिए हमको, नयज्ञान के प्रयोग द्वारा, समझने के समय, दोनों पक्षों में से एक को गौण तथा दूसरे पक्ष को मुख्य रखकर ही, विपरीत स्वभाव वाली अपनी आत्म वस्तु को समझना पड़ेगा; अन्य कोई उपाय नहीं है।

समझने के लिए नयज्ञान का प्रयोग क्यों ?

मेरी आत्मवस्तु अनंतगुणों के समुदायरूप एक वस्तु है। साथ ही वह समग्र वस्तु, हर समय ध्रुव रहते हुए, पलटती भी रहती है तथा उस आत्मवस्तु में, गुणों की अपेक्षा भेदपक्ष भी है तथा वे गुण आत्मा में अभेद होने से, अभेद पक्ष भी हर समय विद्यमान है। यही भेदाभेदात्मक-वस्तु हरसमय ध्रुव रहते हुए पलटती भी रहती है इसलिये वह अनंतगुणों का समुदायरूप-अभेद होने से, अनंतगुण भी हरसमय पलटते रहते हैं। यही कारण है कि आत्मा के हर समय पलटन में, अनेक प्रकार के भाव एक साथ ही होते हुए, हमारे अनुभव में आते हैं। जैसे क्रोध उत्पन्न होते समय, चरित्रगुण की पर्याय क्रोधरूप हुई, उसी समय क्रोध होने की जानकारी ज्ञानगुण में हुई, श्रद्धा की विपरीतता ने यह क्रोध मैंने किया ऐसी श्रद्धा कर ली, वीर्यगुण ने सबको बलाधान प्रदान किया, सुख गुण की विपरीतता ने उसका दुःखरूप वेदन किया। इस ही प्रकार अन्य अनेक गुणों का कार्य भी उस एक ही समय होता हुआ अनुभव में आता है। इससे सिद्ध होता है कि एक क्रोध की उत्पत्ति काल में ही, अभेद एवं

नित्य स्वभावी आत्मा विद्यमान रहते हुए भी, अनित्य स्वभावी एक समयवर्ती पर्याय में, अनेक गुणों संबंधी अनेक प्रकार के भाव भी अनुभव में आ रहे हैं। पर्यायों के वे अनेक प्रकार के भाव, आत्मा का भेद-स्वभावीपना भी प्रसिद्ध कर रहे हैं। उपरोक्त सभी कारणों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा तो हर समय ही नित्यानित्य स्वभावी एवं भेदाभेद स्वभावी ही अनादिअनंत विद्यमान रहता है। ऐसी आत्मा को समझने का उपाय मात्र एक नयज्ञान ही है।

उपरोक्त अनेकताओं के बीच फंसी हुई आत्मा को समझने के लिए उपरोक्त दोनों स्वभावों का संक्षेपीकरण करें तो, आत्मा नित्य स्वभावी ही, अभेद-स्वभावी भी है। अतः दोनों स्वभाव उस एक ध्रुव स्वभावी वस्तु के ही है, जिसको शास्त्रीय भाषा में परमपारिणामिक-भाव, त्रिकाली ज्ञायक-भाव, ध्रुवतत्व, अपरिणामी-तत्व आदि-आदि अनेक-नामों से सम्बोधन किया गया है। दूसरी ओर अनित्य-स्वभावी-पर्याय के द्वारा ही भेदपक्ष प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः भेदस्वभावी एवं अनित्य-स्वभावी दोनों पर्याय ही हैं। इसी को गुणभेद, पर्यायभेद एवं अनेक-अनेक प्रकार के भावों को प्रकाशित करती हुई उस पर्याय को ही, जिनवाणी में अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है।

इसप्रकार दोनों पक्षों में से, अकेले द्रव्य-पक्ष को जानने वाले ज्ञान को एवं समझने की प्रणाली को द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है और दूसरे पक्ष अर्थात् पर्याय-पक्ष को जानने वाले ज्ञान एवं समझने की प्रणाली को पर्यायार्थिनय कहा जाता है। ज्ञानी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाने से, उस के ज्ञान में प्रमाण रूप समग्र वस्तु का ज्ञान परोक्ष रूप से वर्तता ही है। अतः वह ज्ञान जब द्रव्यार्थिकनय के द्वारा वस्तु को जानता है, तब उसका ज्ञान पर्यायार्थिकनय के विषय को गौण रखता है और जब पर्यायार्थिकनय के द्वारा वस्तु को जानता है तब उसका ज्ञान द्रव्यार्थिकनय के विषय को गौण रखता है। इसप्रकार उसके ज्ञान में मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक समग्र

वस्तु का ज्ञान निरंतर वर्तता है। ऐसे ही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं और ऐसे कथन को स्याद्वाद अथवा अनेकांतवाद कहते हैं। उस ही ज्ञानी के ज्ञान द्वारा, वस्तु का जो ज्ञान हुआ वह ही यथार्थ वस्तु की व्यवस्था है। अतः उसका कथन भी प्रमाणिक है और वही वास्तविक वस्तु का स्वरूप है।

इसके विपरीत अज्ञानी के ज्ञान में समग्र प्रमाणरूप वस्तु जानने में नहीं आई है अतः उसका ज्ञान यथार्थतः सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। मिथ्याज्ञान होने से वस्तु को मुख्य-गौण व्यवस्था द्वारा जानने में असमर्थ रहता है, अतः उसका ज्ञान भी एकांत अर्थात् मिथ्या रहता है और कथन भी समीचीन नहीं हो सकता। लेकिन अज्ञानी, आत्म-वस्तु को समझने के लिए उपरोक्त व्यवस्था पूर्वक ही वस्तु को समझ सकता है। इसप्रकार अज्ञानी के ज्ञान में प्रमाण रूप वस्तु का ज्ञान तो वर्तता नहीं है फिर भी वह नयज्ञान के प्रयोग द्वारा, उस प्रमाण ज्ञान के विषयरूप वस्तु को समझ तो सकता ही है। इस ही भाव का आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार गाथा ८ में समर्थन किया है।

अर्थ :— "जैसे अनार्य म्लेच्छ जन को अनार्य भाषा के बिना, किसी भी वस्तु का ग्रहण कराने के लिए कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार भेदकथन के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।" ॥ ८ ॥

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्र इसी गाथा की टीका के अंत में कहते हैं कि :—

"इसप्रकार जगत तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से, और व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादक कहनेवाला है इसलिए, व्यवहारनय भेदकथन द्वारा स्थापित करने योग्य है, किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए इस वचन से वह व्यवहारनय, भेदकथन अनुसरण करने योग्य नहीं है, अर्थात वस्तु को वैसा ही मान लेने योग्य नहीं है।"

इसप्रकार अज्ञानी को भी ज्ञानी बनने के लिए उपर्युक्त प्रकार के नयज्ञान के प्रयोग द्वारा, अपनी आत्मवस्तु को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

नयज्ञान के प्रयोग की आवश्यकता को और भी स्पष्ट करते हुए कतिपय आगम प्रमाण निम्नप्रकार है :—

आलापद्धति में नय का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है :—

"प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है।"

(डॉ. भारिल्ल कृत द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ २३)

ज्ञाता के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए धवलाकार निम्नप्रकार कहते हैं —

प्रश्न :— "नय किसे कहते हैं ?

उत्तर :— ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

प्रश्न :— अभिप्राय इसका क्या अर्थ हैं ?

उत्तर :— प्रमाण से गृहीत वस्तु का, एक देश में वस्तु का निश्चय ही, अभिप्राय है। युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को ग्रहण करने का नाम नय है। अथवा प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं। ऐसा अभिप्राय है।"

(डॉ. भारिल्ल कृत द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ २७)

उपरोक्त समस्त कथन का तात्पर्य यही है कि अज्ञानी को भी ज्ञानी बनने के लिए उपरोक्त नय ज्ञान के आधार से ही समग्र वस्तु को समझना चाहिए। ज्ञानी का ज्ञान तो सहज रूप से नयज्ञानात्मक ही वर्तता रहता

है। लेकिन अज्ञानी को, ज्ञानी बनने के लिए प्रमाणरूप वस्तु को नयज्ञान के आधार से समझकर, तथा तदरूप श्रद्धाजाग्रत कर अर्थात् परिणमन कर ज्ञानी बनना चाहिए। तात्पर्य है कि ज्ञानी बनने के लिए गंभीरता, रुचि एवं सावधानीपूर्वक नयज्ञान का प्रयोग करना अति आवश्यक कर्तव्य है।

नयज्ञान से आत्मा को कैसे समझा जा सकेगा ?

आत्म वस्तु तो, सामान्य विशेषात्मक, द्रव्य पर्यायात्मक, नित्यानित्य स्वभाव एवं भेदाभेद स्वभाव वाली एक ही समय में निरंतर विद्यमान है। हमारे ज्ञान का भी स्वभाव उन दोनों स्वभावों को एक साथ ही जानने की क्षमता वाला विद्यमान है। लेकिन हमारे ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य होते हुए भी, हम छद्मस्थ जीवों के ज्ञान का उपयोग, एक समय में दोनों स्वभावों का एक साथ ज्ञान नहीं कर सकता। जब द्रव्य पक्ष को जानता है तब पर्याय पक्ष को उसी समय नहीं जान सकता और पर्याय पक्ष को जानने के समय द्रव्य पक्ष को नहीं जान सकता। अतः ज्ञानी का ज्ञान तो समग्र वस्तु को एक साथ जान ही सकेगा लेकिन अज्ञानी भी क्रमक्रम से दोनों पक्षों के स्वरूप को समझकर, समग्र वस्तु को समझ सकता है। सम्पूर्ण वस्तु समझ में आ जाने पर एवं श्रद्धा जम जाने पर, ज्ञान भी सम्यक् होकर उस वस्तु का, अनुभव भी कर सकेगा। इसप्रकार समग्र वस्तु का ज्ञान होना संभव है। इसप्रकार क्रमक्रम से दोनों पक्षों के विषय को समझने का पुरुषार्थ करना हमारा कर्तव्य है।

उक्त वस्तु को समझने के लिए नयों का प्रयोग करने की विधि प्रवचनसार गाथा ११४ की टीका में निम्नप्रकार बताई है :—

टीका :— "वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जानने वाली दो ऑखें हैं :— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्याय स्वरूप विशेषों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखने वाले और विशेषों को न देखने वाले जीवों को "वह सब जीव द्रव्य है" ऐसा भासित होता है और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब जीव द्रव्य में रहने वाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्याय स्वरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों को वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। क्यों कि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है" ॥ ११४ ॥

इसप्रकार सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्य-पर्यायात्मक, नित्या-नित्यामक एवं भेदाभेदात्मक एक ही वस्तु को उपरोक्त पद्धति द्वारा, एक नय के द्वारा वस्तु को जानते समय, दूसरे नय की चक्षु को सर्वथा बंद करके अर्थात् नहीं वत् "गौण" करते हुए, अन्य नय को "मुख्य" करके वस्तु को समझना चाहिए। इसीप्रकार जिस नय को गौण किया था उस नय को मुख्य करके, जिसको मुख्य किया था उस को गौण करके वस्तु को समझने से समग्र वस्तु का ज्ञान यथार्थ रूप से हो सकेगा अर्थात् समग्र वस्तु समझ में आ सकेगी।

निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोग

उपर्युक्त द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय द्वारा समग्र वस्तु के स्वरूप को समझ लेने पर, वस्तु स्वरूप की जानकारी तो स्पष्ट हो जावेगी, लेकिन मेरा मूल प्रयोजन आत्मा की शांति अर्थात् वीतरागता की प्राप्ति, कैसे होगी ? उसकी प्राप्ति के लिए नयों की क्या उपयोगिता है, यह बात स्पष्ट होनी चाहिए ?

इसका समाधान द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र की गाथा १८२ में निम्नप्रकार दिया है :—

"णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊं पज्जयदव्वत्थियं मुणह"॥

"सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार-ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक - ये दोनों निश्चय व्यवहार के हेतु हैं।"

उक्त छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है :—

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है - ऐसा समझना चाहिए।"

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नय निश्चय-व्यवहार के हेतु अर्थात् साधन हैं, साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि निश्चय द्रव्याश्रित है और व्यवहार पर्यायाश्रित है।

इस संबंध में डॉ. भारिल्ल ने परमभाव प्रकाशक नय चक्र में विस्तार से चर्चा की है। उक्त चर्चा का निष्कर्ष पृष्ठ ३६-३७ में निम्नप्रकार दिया गया है :—

"बहुत-कुछ विचार-विमर्श के बाद यही उचित लगता है कि अध्यात्म-शैली के मूलनय निश्चय-व्यवहार हैं और आगम-शैली के मूलनय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक हैं।"

आलापपद्धति में लिखा है:—

"पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते।
तावन्मूलनयो द्वो निश्चयो व्यवहारश्च।

फिर भी अध्यात्म-भाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं। मूलनय दो हैं :— **निश्चय और व्यवहार।**

इस कथन से भी यह स्पष्ट होता है कि निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं।

उक्त दोनों दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर मूलनय दो-दो के दो युगलों में कुल मिलाकर चार ठहरते हैं:—

(क) १. निश्चय २. व्यवहार।

(ख) १. द्रव्यार्थिक २. पर्यायार्थिक।

लगता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहकर ग्रंथकार आगम को अध्यात्म का हेतु कहना चाहते हैं। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आगम के नय हैं और निश्चय- व्यवहार अध्यात्म के नय हैं, यहाँ द्रव्यार्थिक -पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने से यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है कि आगम अध्यात्म का हेतु है, कारण है, साधन है।

आत्मा का साक्षात् हित करने वाला तो अध्यात्म ही है, आगम तो उसका सहकारी कारण है-यही बताना उक्त कथन का उद्देश्य भासित होता है।"

इसप्रकार उक्त सब कथनों का तात्पर्य यही निकलता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय, निश्चय-व्यवहारनयों के पूरक अर्थात् सहायक ही है। द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय द्वारा समझी गई वस्तु में से कौनसे पक्ष को मुख्य करने से मेरा प्रयोजन जो एक मात्र वीतरागता है प्राप्त होगा, यह समझना है। इस प्रयोजन के लिए ही उपरोक्त दोनों नयों के प्रयोग करने की पद्धति का नाम ही निश्चय-व्यवहार नय है। इस ही कारण आचार्यों ने द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को आगम के नय बताये हैं एवं निश्चय-व्यवहार नयों को अध्यात्म के नय कहा है। आगम को अध्यात्म का पूरक बताया है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा का अनुभव कराने के लिए उपयोगी तो, निश्चय-व्यवहार नय ही है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों के जानने-समझने का फल तो निश्चय-व्यवहार नयों की यथार्थ समझ है। अतः इनके सावधानीपूर्वक प्रयोग का फल, आत्मानुभव आना चाहिए।

अध्यात्म शब्द का अर्थ : बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ में बताया गया है कि :— "मिथ्यात्व रागादि समस्त विकल्प मात्र के त्याग से, स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

इस परिभाषा के अनुसार हमारे प्रयोजन की सिद्धि तो मात्र अध्यात्म के नय अर्थात् निश्चय नय एवं व्यवहार नय से ही हो सकती है।

जिसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों का प्रयोग मुख्यता गौणता पूर्वक करने से आत्म वस्तु की यथार्थ समझ उत्पन्न होती है, उसीप्रकार निश्चय-व्यवहार नयों के मुख्यता-गौणतापूर्वक यथार्थ प्रयोग करने पर आत्मोपलब्धि अर्थात् आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है। दोनों प्रकार के नयों के प्रयोग में मुख्यता-गौणता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है तो उसको जानने वाला ज्ञान भी दोनों को जानने वाला होना ही चाहिए। ज्ञान में दोनों नयों के विषयों को एक साथ जानने की सामर्थ्य होते हुए भी, हम छद्मस्थों के ज्ञान की ऐसी निर्बलता है कि दोनों पक्षों में से एक समय, मात्र एक ही पक्ष को जान पाता है। अतः उसके ज्ञान को अनिवार्य हो जाता है कि हर समय एक पक्ष को गौण रखते हुए ही प्रवर्तन करे। तात्पर्य है कि नयों के प्रयोग में मुख्य-गौण व्यवस्था अनिवार्य एवं आवश्यक भी है। उसके बिना वस्तु को समझना असंभव है। उसी प्रकार आत्मा का अनुभव करने के लिये भी निश्चय-व्यवहारनयों में भी मुख्यता-गौणता पूर्वक ही प्रयोग अनिवार्य है।

सिद्धान्त है कि अनुभव अर्थात् वेदन हमेशा मुख्य का होता है। जीव जिसको मुख्य अर्थात् महत्वपूर्ण मानता है, ज्ञान उस ही के सन्मुख होकर प्रवर्तन करने लगता है ; ऐसा ही हमारे अनुभव में भी आता है। जैसे हमारे सामने अनेक ज्ञेय उपस्थित होते हुए भी उन सब में से मेरा

ज्ञान उस ही ज्ञेय को जानने में प्रवर्तन करने लगता है, जिसको मैंने उन सब ज्ञेयों में महत्वपूर्ण समझा हो। इसप्रकार नयों के प्रयोग के लिए किसको मुख्य मानना, यह निर्णय करना सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसके बिना नयों का प्रयोग फल प्रदान करने वाला नहीं हो सकेगा।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के प्रयोग में तो हमको, हमारे आत्मा को समझने का उद्देश्य है। अतः उसके लिए तो दोनों नयों के मुख्य गौण व्यवस्थापूर्वक, क्रमशः प्रयोग द्वारा समग्र वस्तु को समझा जाता है। लेकिन अनुभव के लिए ऐसा नहीं है, क्योंकि अनुभव तो मात्र मुख्य का ही होता है, गौण का नहीं। अतः अनुभव के लिए किसको मुख्य करना, किसको गौण रखना, इसके यथार्थ निर्णय की प्रक्रिया को समझना ही निश्चय-व्यवहारनय को समझना है।

निश्चय-व्यवहार की उपयोगिता

निश्चय-व्यवहार की परिभाषाओं के संबंध में चर्चा करने के पूर्व यह समझना है कि निश्चय-व्यवहार का आधार अर्थात् आश्रय कौन है? इसका समाधान द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र की गाथा १८२ से प्राप्त होता है कि :—

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं, उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है; ऐसा समझना चाहिए।"

(परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ ३४)

उपरोक्त गाथार्थ से यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्राप्त होता है कि द्रव्यार्थिकनय का विषय जो अभेद ध्रुवद्रव्य है वह निश्चयनय का आश्रय है एवं पर्यायार्थिकनय की विषय भूत उत्पाद-व्यय वाली पर्याय एवं भेद वे ही व्यवहारनय के विषय हैं। इससे फलित होता है कि द्रव्यार्थिकनय एवं निश्चयनय का विषय एक ही है और इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय एवं व्यवहारनय का विषय एक ही है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब दोनों का विषय एक ही है तो अलग-अलग नाम देकर चार भेद क्यों कर दिये। मात्र दो ही भेद से काम चल सकता था।

समाधान— ऐसा मानना यथार्थ नहीं है। द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आगम के नय हैं, उनका उद्देश्य वस्तु के स्वरूप को यथार्थ समझने का होता है और निश्चय-व्यवहार तो आत्मा का अनुभव कराने के लिए उपयोगी है।

अत: दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। दोनों प्रकार के नयों का विषय एक होते हुए भी, दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। अत: सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के माध्यम से, अपने आत्मा के स्वरूप का अर्थात् संपूर्ण पदार्थ का यथार्थ ज्ञान करना अर्थात् समझना चाहिए। उसके पश्चात् किस का आश्रय करना अर्थात् किसमें अपनापन करना अर्थात् किसको महत्वपूर्ण मानना, उसके लिए निश्चय-व्यवहार का प्रयोग ही कार्यकारी होगा। द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय के द्वारा समग्र पदार्थ का स्वरूप समझ में आने पर भी अपना मूल प्रयोजन जो एक मात्र वीतरागता के द्वारा आत्म शांति प्राप्त करना था, वह तो प्राप्त नहीं हुआ? अत: वह शांति प्राप्त करने का उपाय तो, मात्र निश्चय-व्यवहार के यथार्थ प्रयोग करने की पद्धति को समझना ही है। उस विधि की यथार्थ समझ द्वारा, इस निर्णय पर पहुँचना होगा कि निश्चय नय का विषय आश्रय करने योग्य अर्थात् मुख्य मानने योग्य है, व्यवहार नय का विषय नहीं। यह महत्वपूर्ण निर्णय निश्चय-व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को समझे बिना संभव नहीं है।

निश्चय-व्यवहार के विषयों का यथार्थ परिज्ञान एवं निर्णय करके, अपनी अन्तर्परिणति को अर्थात् उपयोग को, मुख्य माने हुए विषय में, ऐक-मेक करना (अभेद करना) तथा गौण माने हुए विषय के प्रति उपेक्षा बुद्धि अर्थात् परभाव जाग्रत कर, उससे अपनी परिणति-उपयोग को व्यावृत करना अर्थात् हटाना, यह यथार्थ मोक्ष-मार्ग है। यही एक मात्र

आत्मोपलब्धि प्राप्त करने का वास्तविक उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय के द्वारा आत्मोलब्धि संभव नहीं है।

आत्मोपलब्धि का अर्थ :— आत्मा की प्राप्ति होना। इसका अर्थ हुआ कि अभी तक हमको आत्मा उपलब्ध नहीं था, इस ही का विश्लेषण करें तो हमको स्पष्ट समझ में आवेगा कि हमारे ज्ञान-श्रद्धान में आत्मा अभी तक उपलब्ध नहीं था। उसके स्थान पर मात्र ज्ञेय ही उपलब्ध हो रहे थे। यह तथ्य हमको हमारे वर्तमान ज्ञान के परिणमन से भी समझ में आता है कि, हमारे ज्ञान को जब भी देखें हमको मात्र परज्ञेय ही दिखते हैं, ज्ञायक-आत्मा का तो कहीं अस्तित्व ही नहीं दिखता। अत: जब भी मेरे ज्ञानश्रद्धान में ज्ञेय के स्थान पर ज्ञान अर्थात् ज्ञायक प्रगट हो जावे, वही आत्मोपलब्धि ही है। ऐसी आत्मोपलब्धि मात्र अध्यात्म से ही होना संभव है। ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा ५७ की टीका में अध्यात्म का अर्थ किया है :—

"मिथ्यात्वराग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्व-शुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

उक्त गाथा से फलित होता है कि मात्र अध्यात्म से ही आत्मोपलब्धि संभव है। निश्चयनय एवं व्यवहारनय दोनों अध्यात्म के नय हैं। इसकी यथार्थ समझ से ही आत्मोपलब्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। अत: आत्मोपलब्धि के लिए दोनों नयों का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान होना, यह ही इन दोनों नयों के समझने की यथार्थ उपयोगिता है।

निश्चय-व्यवहार नयों की परिभाषाएँ

निश्चय-व्यवहार नय का मूल प्रयोजन तो अपना प्रयोजन जो वीतरागता है, वह प्राप्त करना है। वस्तु के स्वरूप को तो समझ लिया लेकिन समझ लेने मात्र से तो वीतरागता की उत्पत्ति नहीं हो जावेगी? जानी हुई वस्तु में से किसका आश्रय छोड़ने से एवं किसका आश्रय ग्रहण करने से, मेरी परिणति सब ओर से सिमटकर एक मात्र मेरे आत्मा में

केन्द्रित हो जावे, यह तो निर्णय करना ही होगा। तभी मुझे आकुलता का अभाव होकर आत्मिक शांति प्राप्त होना संभव है। अतः मेरे उक्त प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये जाने हुए वस्तु स्वरूप में से, क्या प्रयोजनभूत है और क्या अप्रयोजन भूत है यह समझकर, प्रयोजनभूत को मुख्य बना कर, उसको आश्रयभूत मानते हुए अपनी परिणति को उस ओर केन्द्रित करना और अप्रयोजनभूत के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न कर, अपनी परिणति उस ओर नहीं जावे और सिमटकर आत्म सन्मुख हो इस ही का नाम निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग है और परिणति की उक्त दशाओं को जानने वाली ज्ञान पर्यायों का नाम ही निश्चयनय एवं व्यवहारनय है।

ज्ञान क्रिया की सांगोपांग यथार्थ समझ के द्वारा, यथार्थ निर्णयप्राप्त कर, जिस विषय को मुख्य मान लेगा, और श्रद्धा भी दृढ़ हो जावेगी, तब उस ही ओर उपयोग सहित परिणति अग्रसर हो जाती है। इस ही दशा प्राप्त उक्त परिणति का नाम निश्चयमोक्षमार्ग है और उस ज्ञान का नाम ही निश्चय-नय है। साथ ही जिसको समझकर श्रद्धा ने हेय माना है, तथा ज्ञान ने गौण किया है, फिर भी उसका अस्तित्व तो समाप्त नहीं हुआ है, पर्याय में विद्यमान हैं, और निश्चय-मोक्षमार्ग के साथ रहते हुए भी उसको हानि नहीं करता, इसलिए उसको व्यवहार-मोक्षमार्ग एवं उक्त ज्ञान के उपयोग को व्यवहार-नय कहा गया है। यह विषय विविध परिभाषाओं के माध्यम से आगे स्पष्ट होगा।

पूज्य श्री कानजीस्वामी ने समयसार की गाथा ९२ के प्रवचन में यह बात निम्न शब्दों में स्पष्ट की है :—

"धर्म प्रगट करने का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को मुख्य करके, उसको निश्चय कहकर, सत्यार्थ कहा है। वर्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होता नहीं हैं, बल्कि रागादि विकल्प होते हैं इसलिए पर्याय का आश्रय छुडाने के लिए, उसको गौण करके

व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।"

(प्रवचनरत्नाकर भाग-१ पृष्ठ १५७)

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि मुख्य गौण व्यवस्था में भी प्रयोजन की ही मुख्यता है और साधक जिसको मुख्य करता है, वही निश्चय है और जिसको गौण करता है वही व्यवहार कहा जाता है।

इसप्रकार यह महान् सिद्धान्त फलित होता है कि साधक जीव का प्रयोजन तो एक मात्र वीतरागता है। उसकी सिद्धि के लिए, वह जिस प्रकार से अपना प्रयोजन सिद्ध हो, उसीप्रकार मुख्य-गौण व्यवस्था पूर्वक नयों के प्रयोग द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। इसलिए पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा की गई यह परिभाषा बहुत महत्वपूर्ण है कि "मुख्य सो निश्चय, गौण सो व्यवहार।" इसके विपरीत यह नहीं कहा कि निश्चय सो मुख्य और व्यवहार वह गौण। क्योंकि दूसरे नंबर की परिभाषा में हमारा प्रयोजन वीतरागता, वह सिद्ध नहीं होता, वह तो आगम की परिभाषा है, आत्मा के समझने मात्र में कार्यकारी है। अध्यात्म में तो पहले नंबर वाली परिभाषा ही उपयोगी है, क्योंकि मुझे तो वीतरागता रूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिए जिसको मुख्य करना हो, वही मेरे लिए निश्चय अर्थात् उपादेय हो जाता है और जो प्रयोजन के लिए साधक तो नहीं है लेकिन फिर भी पर्याय में विद्यमान होने से ज्ञात तो होता ही है और उसकी उपेक्षा किये बिना, मेरा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसको गौण करके व्यवहार मानकर हेय करना भी आवश्यक हो जाता है।

उसका प्रमाण यह है कि जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि "स्व वह निश्चय, पर वह व्यवहार" जैसे जब छहों द्रव्यों से भिन्न करके, अपने आत्मा को स्व मानना हो तो, अपना आत्मा शुद्धाशुद्ध पर्यायों सहित वह मुख्य हो जाने से निश्चय कहा जाता है और उसी समय अन्य छहों द्रव्य मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी उनको गौण कर देने से ही मेरा प्रयोजन सिद्ध होता है अतः उनको गौण कर व्यवहार कहा जाता है। इसीप्रकार

भेदज्ञान की सिद्धि के लिये जो भी अपना प्रयोजन हो उसकी सिद्धी के लिए, जो भी मुख्य हो वह निश्चय हो जाता है और जो भी प्रयोजनभूत नहीं हो वह गौण हो कर व्यवहार हो जाता है।

इसप्रकार यह परिभाषा सत्यार्थ है कि "मुख्य सो निश्चय और गौण वह व्यवहार।" इसके अतिरिक्त भी जिनवाणी में निश्चय-व्यवहार की अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। उनका महत्वपूर्ण संग्रह एवं विवेचन डॉ. भारिल्ल द्वारा रचित परमभाव प्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ ३९ से ४२ तक में किया है, वह इस प्रकार है :—

"जिनागम में निश्चय-व्यवहार की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। नय चक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं :—

"जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणई एकवत्थुस्य।
सो ववहारों भणियो विवरीओ णिच्छयो होई॥

जो एक वस्तु के धर्मो में कथंचित् भेद व उपचार करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं और उससे विपरीत निश्चयनय होता है।"

इसीप्रकार का भाव आलाप-पद्धति में भी व्यक्त किया गया है :—

"अभेदानुपचरितया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः।
भेदोपचरितया वस्तु व्यवहिर्यत इति व्यवहारः॥

अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है और भेद तथा उपचाररूप से वस्तु का व्यवहार करना वह व्यवहारनय है।"

पंचाध्यायीकार इसी बात को इसप्रकार व्यक्त करते हैं :—

"लक्षणमेकत्य सतो यथाकथण्चियथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा त्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः॥

जिसप्रकार एक सत् का जिस किसी प्रकार से विभाग करना व्यवहारनय का लक्षण है, उसीप्रकार इससे उल्टा निश्चयनय का लक्षण है।"

पण्डितप्रवर आशाधरजी लिखते हैं :—

"कर्ताधा वस्तुनों भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारो सौ निश्चयस्तद-भेददृक॥"

इसीप्रकार का भाव नागसेन के तत्वानुशासन में भी व्यक्त किया गया है :—

"अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः॥

जिसका अभिन्न कर्ता-कर्म आदि विषय है, वह निश्चयनय है और जिसका विषय भिन्न कर्ता-कर्म आदि है वह व्यवहारनयय है।"

"आत्मख्याति" में आचार्य अमृतचन्द्र ने जो परिभाषा दी है, वह इसप्रकार है :—

"आत्माश्रितो निश्चयनय पराश्रितो व्यवहारनयः।"

"आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं।

भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार कहने वाले कथन भी उपलब्ध होते हैं।

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है, जिसका सार इस प्रकार है :—

१. सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं।
२. एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्यके भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना

व्यवहारनय है। जैसे - मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चयनय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहारनय का कथन है।

३. जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही का कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहने वाला व्यवहारनय है।

४. व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।

उक्त समस्त परिभाषाओं पर ध्यान देने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:-

१. निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का भेद।

२. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है और व्यवहारनय उपचरित।

३. निश्चयनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय असत्यार्थ।

४. निश्चयनय आत्माश्रित कथन करता है और व्यवहारनय पराश्रित।

५. निश्चयनय असंयोगी कथन करता है और व्यवहानय संयोगी।

६. निश्चयनय जिस द्रव्य का जो भाव या परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है, पर व्यवहारनय निमित्तादि की अपेक्षा लेकर अन्य द्रव्य के भाव या परिणति को अन्य द्रव्य की भी कह देता है।

७. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र कथन करता है, जबकि व्यवहार अनेक द्रव्यों को, उनके भावों, कारण-कार्यादिक को भी मिलाकर कथन करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय और व्यवहार की विषय-वस्तु और कथन शैली में मात्र भेद ही नहीं, अपितु विरोध दिखाई देता है,

क्योंकि जिस विषय वस्तु को निश्चयनय अभेद अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती हैं।

जैसा की समयसार गाथा २६ में कहा है :—

"ववहारणओ भासदि जीवों देहो य हवदि खलु एक्को।

ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥

"व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।"

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है। इसी प्रकार निश्चय मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खंडन भी करता है।

इसप्रकार निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व और निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोगी-भावों का ज्ञान भी कराता है। यही कारण है कि निश्चयनय का कथन स्वाश्रित और व्यवहारनय का कथन पराश्रित होता है और निश्चयनय के कथन सत्यार्थ-सच्चा और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ-उपचरित कहा जाता है।

(डॉ. भारिल्ल परमभाव प्रकाशक नयचक्र)

उपरोक्त सभी परिभाषाओं का वर्गीकरण करें तो निम्न दो परिभाषाओं में सबका समावेश हो जाता है :—

अभेद अनुपचार कथन सो निश्चय, भेद तथा उपचार कथन वह व्यवहार।

– आलाप-पद्धति

आत्माश्रित कथन निश्चय एवं पराश्रित कथन वह व्यवहार

– *आत्मख्याति*

उपरोक्त दोनों परिभाषाओं का विस्तारीकरण एवं सरलीकरण ही पं. टोडरमलजी साहब ने उपरोक्त प्रकार से किया है।

वास्तव में वस्तु तो सदैव ही अभेद एवं एक अखंड ही है। उसका कथन तो भेद, प्रभेद करके किया जा सकता है लेकिन वस्तु को भेद करके खंड-खंड नहीं किया जा सकता। वस्तु तो वस्तु ही है, उसमें अन्य का उपचार करके अन्य रूप कहा तो जा सकता है लेकिन उपचार कर कहने मात्र से वस्तु उपचरित नहीं हो जाती। यही कारण है कि आलापपद्धति ने "अभेद और अनुपचार रूप वस्तु का निश्चय करना अर्थात् स्वीकार करना, उसको निश्चय कहा है।" और वस्तु को ऐसा ही स्वीकार करने वाली श्रद्धा, निश्चय श्रद्धा अर्थात् यथार्थ श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा है एवं वस्तु को इस ही प्रकार की स्वीकार कर जानने वाली ज्ञान पर्याय, यथार्थज्ञान, अर्थात् सम्यग्ज्ञान है।

जिसको उपरोक्त प्रकार आलापपद्धति अनुसार की यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान उत्पन्न हो गया हो, वह वस्तु को अभेद जानते हुए भी, उस ही को समझाने व समझने के लिए ,भेद पूर्वक एवं अनेक उपचार पूर्वक समझने, समझाने का प्रयास करता है। ऐसे कथन को ही व्यवहार कथन कहा जाता है। वस्तु को जैसी कहा जा रहा है वस्तु तो वैसी नहीं है, वस्तु तो इन भेदों और उपचारों से अत्यन्त दूर, मात्र अभेद और अनुपचार रूप ही है, ऐसी श्रद्धा एवं ज्ञान अक्षुण्ण बना रहने से, वस्तु को भेदरूप अथवा उपचार पूर्वक कहते हुए भी, श्रद्धा, ज्ञान यथार्थ बना रहता है। अतः यह आगम की मुख्यता वाली परिभाषा है।

ऐसी श्रद्धा व ज्ञान वर्तते हुए, आत्मार्थी इसप्रकार के भेद उपचार के कथनों से भ्रमित नहीं होता, वरन् उन व्यवहार कथनों को अपनी श्रद्धा ज्ञान में गौण रखते हुए, अभेद वस्तु को मुख्य बनाये रखता है। फलतः

अपना प्रयोजन साधने हेतु निश्चय को उपादेय करते हुए और व्यवहार का हेय मानते हुए, अपनी परिणति को उपादेय की ओर झुकाता और हेय की ओर से समेटता हुआ व्यावृत करता हुआ आत्मानुभूति प्राप्त कर, अपना जीवन सफल कर लेता है।

दूसरी "आत्मख्याति" की परिभाषा के अनुसार "आत्माश्रित निश्चय और पराश्रित व्यवहार" है। यह परिभाषा अध्यात्म की है अर्थात् आत्मानुभूति के लिए परम उपयोगी है। जिस आत्मार्थी ने आलाप पद्धति के कथन अनुसार अपनी आत्मवस्तु का अस्तित्व, अभेद अनुपचार रूप अपने श्रद्धा, ज्ञान में स्वीकार किया है, भेद-उपचार के कथनों को जानते हुए भी उनसे भ्रमित नहीं होता, उनसे रहित अपनी आत्मवस्तु को मानता है। ऐसे आत्मार्थी की, अपनी परिणति में होने वाले अनेक प्रकार के भाव, जो ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात होते हैं, उनमें हेय उपादेयपना निर्णय करने के लिए उपरोक्त परिभाषा का प्रयोग करता है। आत्माश्रित भावों को उपादेय मानता हुआ मुख्य रखता है, अतः वे ही निश्चय हो जाते हैं। और पराश्रित सभी भावों को हेय मानकर गौणकर व्यवहार मानकर, उपेक्षित व गौण करते हुए, अपनी परिणति को अभेद के सन्मुख कर, आत्मानुभूति प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता रहता है और उसमें सफलता प्राप्तकर जीवन सार्थक कर लेता है।

जिसको आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हुई है, ऐसा अज्ञानी भी उपर्युक्त परिभाषाओं के माध्यम से अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझकर एवं आत्मोपलब्धि के मार्ग को भी भलीप्रकार समझकर, निर्णय कर, तदनुकूल परिणमन करने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

आत्मोपलब्धि में नयज्ञान की उपयोगिता

उपर्युक्त स्पष्टीकरणों द्वारा यह तो समझ में आता है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिये तो नयज्ञान उपयोगी है ही, लेकिन

आत्मोपलब्धि में भी नयज्ञान किसप्रकार उपयोगी होता है, यह समझना है।

प्रश्न :— हमारे ज्ञान का विषय क्या है, जिसमें नयज्ञान का प्रयोग आवश्यक होगा?

समाधान :— परिपूर्ण एवं शुद्ध ज्ञान, क्षायिकज्ञान तो भगवान केवली का है, उनका प्रगट ज्ञान ही हरएक आत्मा के ज्ञान का यथार्थ स्वभाव है। उनके ज्ञान का जो भी विषय हो वास्तव में वही हर एक आत्मा के ज्ञान का विषय होना चाहिए। भगवान अरहंत के हर एक समय के ज्ञान का विषय स्व हो अथवा पर, सबके द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक संपूर्ण पदार्थ होते हैं, इसलिये उनके ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं एवं उस ज्ञान के विषय को भी प्रमाणज्ञान का विषय कहते हैं। इसप्रकार केवली को द्रव्य-गुण- पर्यायात्मक पूरे पदार्थ ही ज्ञान के विषय होते हैं व होना भी चाहिए।

लेकिन हमारे छद्मस्थ के क्षायोपशमिक ज्ञान की इतनी अधिक निर्बलता है कि हम एक समय में एक पदार्थ को भी पूरा नहीं जान पाते, अन्य को जानने की तो बात ही क्या करें।

इसलिए सर्वप्रथम यह आवश्यक लगता है कि प्रमाण ज्ञान के विषय को समझना चाहिए। आचार्यों का कथन भी है कि प्रमाण ग्रहीत पदार्थ भेद प्रभेद करके समझने के लिये ही नयों का प्रयोग होता है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३३ में कहा है कि :—

"प्रमाणप्रकाशितार्थविषेषाप्ररूपको नयः।"

प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करने का नाम नय है।"

इसप्रकार सर्वप्रथम प्रमाण ज्ञान एवं उसके विषय-पदार्थ का स्वरूप समझना चाहिए, जिसको भेद-प्रभेद करके नयज्ञान द्वारा समझना, आत्मोपलब्धि के लिये कार्यकारी है। प्रमाणपूर्वक नय का ज्ञान ही

सम्यग्ज्ञान है और प्रमाण ज्ञान के अभाव में नयज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। अतः प्रमाण ज्ञान एवं उसके विषय को भलीप्रकार से समझना चाहिए।

प्रमाण ज्ञान

आगम का वाक्य है "सम्यग्ज्ञानंप्रमाणं" सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।

सम्यग्ज्ञान है वही ज्ञान, प्रमाण ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानी को आत्मदर्शन दो प्रकार से होता है, परोक्ष एवं प्रत्यक्ष। परोक्ष तो छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को होता है और प्रत्यक्ष केवली भगवान को होता है। अतः दोनों के ही ज्ञान सम्यक् होने की अपेक्षा प्रमाण कहे गये हैं। लेकिन पदार्थ को जानने की अपेक्षा केवली का ज्ञान ही प्रमाणज्ञान कहलाता है, क्योंकि उन्हीं का ज्ञान एक ही समय सामान्य-विशेषात्मक संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है।

परीक्षामुखसूत्र के परिच्छेद सूत्र १ में प्रमाणज्ञान का स्वरूप निम्नप्रकार बताया है :—

"सामान्य विशेषात्यतदर्थो विषयः"

सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है।"

उपरोक्त परिभाषा के अनुसार, जिस ज्ञान का विषय सामान्य-विशेषात्मक संपूर्ण पदार्थ हो वह प्रमाणज्ञान है। इसप्रकार केवली भगवान का ज्ञान तो क्षायक हो जाने से, वह तो सामान्य विशेषात्मक संपूर्ण पदार्थ को एक ही समय में जान लेता है। मात्र इतना ही नहीं, लोक अलोक के सभी पदार्थों को भी एक समय में ही जान लेता है। अतः उनका ज्ञान तो प्रमाणज्ञान है ही।

शंका :— लेकिन छद्मस्थ का ज्ञान तो क्षायोपशमिक होने से परोक्ष ज्ञान हैं। वह तो एक साथ, संपूर्ण पदार्थ को जान ही नहीं सकता? पदार्थ तो एक ही समय में सामान्य विशेषात्मक-नित्यानित्यात्मक है और छद्मस्थ का ज्ञान तो दोनों विरोधी धर्मों को एक साथ एक समय ही, जानने में असमर्थ है, अतः वह तो सम्पूर्ण पदार्थ को एक साथ जान ही नहीं सकता? उसका ज्ञान प्रमाणज्ञान कैसे हो सकेगा ?

समाधान :— यह बात सत्य है कि छद्मस्थ का ज्ञान, क्षायोपशमिक होने से मन और इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करता है, अत: वह क्रमश: प्रवर्तित होने से संपूर्ण पदार्थ को एक साथ जान नहीं सकेगा। लेकिन जब उपरोक्त अज्ञानी छद्मस्थजीव, जिनवाणी के अभ्यास द्वारा तथा गुरू उपदेश द्वारा यथार्थ देशना प्राप्त कर, अर्थात् यथार्थ वस्तु स्वरूप समझकर, अपनी रुचि को इन्द्रिय विषयों से व्यावृत कर, आत्म सन्मुख करता है तब, रुचि के साथ अनंतानुबंधी की क्षीणता के कारण, उसका ज्ञान भी विषयों से हटकर अपनी ओर सिमटने लगता है। जैसे जैसे रुचि का वेग स्व की ओर बढ़ता जाता है, ज्ञान भी पर से उपेक्षित बढ़ता जाता है और स्व में एकत्व करने का प्रयत्न बढ़ता जाता है। जब वह रुचि का वेग अत्यन्त उग्रता को प्राप्त हो जाता है तब, पर एवं पर्यायों से अत्यन्त उपेक्षित होकर, सबको गौण करता हुआ; गुण भेदों एवं स्व-पर के भेदों में भी नहीं अटकता हुआ, एक मात्र अपने आत्मस्वरूप-त्रिकाली ज्ञायक भाव में एकत्व को प्राप्त हो जाने से उपयोगात्मक अभेद हो जाता है। और उस समय उस आत्मा के उपयोग का विषय एक मात्र आत्मा रह जाने से तथा अन्य ज्ञेय उपयोग में नहीं रहने से, मन के आलंबन से होने वाला ज्ञप्ति परिवर्तन का भी अभाव हो जाता है, अत: उस समय का उपयोग इन्द्रियों का अर्थात् मन का भी आश्रय छोड़कर अतीन्द्रिय हो जाता है और ज्ञप्ति परिवर्तन के अभाव से आकुलता का अभाव हो जाने से निराकुलता रूपी अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीसमय मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी का नाश क्षय-उपशम-क्षयोपशम होकर वह आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इसी समय के उपयोग को स्व संवेदनज्ञान एवं शुद्धोपयोग भी कहा जाता है।

उपरोक्त विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिये, लेखक का सुखी होने का उपाय भाग-३ उसमें भी "मेरी आत्मा अरहंत के समान है" शीर्षक वाला प्रकरण अवश्य पढ़ा जाना चाहिए तथा आचार्य श्री अमृतचन्द्र की

प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा ८० की टीका एवं भावार्थ अवश्य पढ़ा जाना चाहिए एवं हृदयंगम करना चाहिए। गाथा ८० की टीका का भावार्थ निम्नप्रकार है :—

"अरहंत भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान है। अरहंत भगवान मोह-राग-द्वेष रहित होने से उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये यदि जीवद्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उस अरहंत भगवान के स्वरूप को मन के द्वारा प्रथम समझ ले तो यह जो आत्मा, आत्मा का एकरूप कथंचित सदृश त्रैकालिक प्रवाह है सो द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहने वाला चैतन्यरूप विशेषण है सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक है सो पर्यायें हैं" इसप्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से मन के द्वारा ज्ञान में आता है। इसप्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान में लेकर-जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है, उसीप्रकार आत्मपर्यायों को और चैतन्य-गुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है।

इसलिये जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है, और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है, तो मैंने मोह को सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है,-ऐसा कहा है ॥ ८० ॥

उपरोक्त दशा प्राप्त आत्मा को उपरोक्त शुद्धोपोग के काल में संपूर्ण आत्मा का स्वभाविक आनंद वेदन में आ जाता है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा संपूर्ण आत्मा स्वसंवेदन रूप से ज्ञात हो गया तथा अनंतानुबंधी का नाश हो जाने से आत्मा के सभी गुण आंशिक रूप से अभेद होकर, आत्मा का आत्मा में आचरण प्रारंभ हो जाता है। अत: उस ही समय एक साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की एकता हो जाने से मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है अर्थात् निश्चय रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग प्रगट हो जाता है। इस

ही ज्ञान को सम्यक् हो जाने से प्रमाणज्ञान कहा जाता है तथा सामान्य विशेषात्मक संपूर्ण पदार्थ का अभेद रूप से स्वसंवेदन ज्ञान हो जाने से भी इस समय के अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रमाणज्ञान कहा गया और इसही समय के ज्ञान में नयज्ञान का जन्म भी साथ ही हो जाता है। इसही को जिनवाणी में प्रमाणपूर्वक नय की उत्पत्ति कहा है। तत्पश्चात् वह ज्ञानी सविकल्पदशा में ज्ञान का प्रयोग करता है, तब अपने आत्मा में रहे हुए, सामान्य विशेषात्मक स्वभावों को क्रमशः मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक नयज्ञान द्वारा जानता रहता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टी के ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहा गया है। विकल्पदशा में तो छद्मस्थज्ञानी का ज्ञान, नयज्ञान के रूप में प्रवर्तित होता रहता है और इस ही समय मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही सम्यकता को प्राप्त हो जाते हैं तथा साथ ही यथार्थ निश्चय-व्यवहार रूप नयज्ञान का भी जन्म हो जाता है। द्रव्य संग्रह की गाथा ४७ में कहा भी है :—

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचिता, जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७॥

मुनिजनों को दोनों ही मोक्षमार्ग निश्चय एवं व्यवहार, ध्यान में ही प्राप्त होते हैं। अतः तुम भी प्रसन्नचित्त होकर मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिये ध्यान प्राप्त करो। ॥ ४७ ॥

इसप्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही आत्मा अनेक अलौकिक उपलब्धियों से अलंकृत हो जाता है। आत्मा के अलौकिक अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के संवेदन से प्राप्त अत्यन्त तृप्तिरूप कृतकृत्यता अनुभव होने लगती है। अब उस ज्ञानी को बाहर के सभी प्रकार के संयोगों में, इन्द्रियों के विषयों आदि में सुख बुद्धि निकल जाती है, उसका जीवन वैराग्यमय बन जाता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञेयों के प्रति उपेक्षा भाव वर्तने लगता है। फलतः लौकिक जीवन भी नैतिक बन जाता है। अन्यायमय प्रवृत्ति करने एवं किसी भी अभक्ष्य वस्तु को भक्षण करने

के भाव ही उत्पन्न नहीं होते। मात्र एक सत्समागम का ही इच्छुक बना रहता है। सच्चे देवशास्त्र-गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव वर्तने लगता है। अतः श्रावक के षट्कर्म भी सहज वर्तने लगते हैं। पद्मनंदि पंचविशतिका में श्रावक के षट्कर्म बताये हैं :—

देवपूजा गुरूपास्ति, स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानं चेतिगृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने दिने॥

भगवान की पूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावक के षट्कर्म हैं, जो श्रावक को नित्य करने चाहिए। इसप्रकार ज्ञानी का जीवन निश्चयसहित यथार्थ व्यवहार युक्त सहज वर्तने लगता है।

प्रमाणज्ञान का फल भी परीक्षामुखसूत्र अध्याय ४ के सूत्र १ में बताया है कि अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ हेय उपादेय का ज्ञान एवं उपेक्षा बुद्धि प्रमाणज्ञान का फल है। इसलिये सम्यग्ज्ञानी को अज्ञान का अभाव होकर पर्याय में अनंतानुबंधी के अभावात्मक त्याग एवं ग्रहण होकर ज्ञेयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि वर्तने लगती है। कहा है :—

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपदानोपेक्षाश्च फलं॥ १॥

अज्ञान की निवृत्ति, त्यागना, ग्रहण करना और उपेक्षा करना-यह प्रमाण का फल है॥ १॥

इसप्रकार सम्यग्ज्ञानी का ज्ञान प्रमाण हो जाने से उपरोक्त वृत्ति सहजवर्तने लगती है। अब यह समझना है कि जब वह ज्ञानी सविकल्प दशा में होता है तब उसका ज्ञान नयज्ञान हो जाने से किसप्रकार से कार्यशील रहता है।

नयज्ञान

वास्तव में नयज्ञानका जन्म सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है, लेकिन नयज्ञान सम्यग्ज्ञान का अंश है, सम्यग्दर्शन का नहीं। क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की पर्याय है और नयज्ञान तो ज्ञान गुण की पर्याय है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति निर्विकल्प आत्मानुभूति में ही होती है सम्यग्दर्शन के पूर्व जो ज्ञान मिथ्या था, उस ही क्षयोपशम ज्ञान ने आत्मानुभूति के समय अपने द्रव्य को स्वानुभव के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया, अर्थात् निज आत्मद्रव्य को अभेद रूप से स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा जान लिया। अतः वही ज्ञान अब सम्यक्ता को प्राप्त होने से सम्यग्ज्ञान हो गया। इसी कारण उसके ज्ञान को प्रमाणज्ञान कहा गया है।

वास्तव में तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के साथ-साथ ही आत्मा का ज्ञान स्व में उपयोगात्मक अभेद होता है, स्व में अभेद होते ही अनंत गुणात्मक आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का संवेदन, अतीन्द्रिय ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः मतिश्रुतज्ञान का क्षयोपशम जो उस संवेदन के पूर्व मिथ्या था, वह ही सम्यक् हो जाता है। इसी कारण वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है और उसके साथ-साथ ही नयज्ञान भी उदित हो जाता है। इसी को प्रमाणपूर्वक नय का जन्म भी कहा जाता है और वे दोनों सम्यग्ज्ञान के अंश होने से उन को सम्यक् प्रमाणनय भी कहा जाता है। आगम में भी कहा है - "श्रुतविकल्पानया" श्रुतज्ञान का ही विकल्प भेद नय है। जब मतिश्रुत ज्ञान ही सम्यक् हो गया तो उसके भेद भी सम्यक् ही रहेंगे। अतः ज्ञानी के प्रमाण एवं नय सभी सम्यक् हैं।

स्वसंवेदन की प्रत्यक्षता, परोक्षता एवं मुख्यता

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थ का ज्ञान निर्विकल्प हो अथवा सविकल्प हो, रहेगा तो वह परोक्ष ही। अतः परोक्ष ज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष कैसे हो जावेगा।

समाधान :— प्रवचनसार की गाथा ५८ तथा उसकी टीका में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान का लक्षण निम्नप्रकार बताया है :—

"टीका :— निमित्तता को प्राप्त निमित्तरूप बने हुए ऐसे जो परद्रव्यभूत अंतःकरण मन, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार या

प्रकाशादिक हैं, उनके द्वारा होने वाला जो स्वविषयभूत पदार्थ का ज्ञान, वह पर के द्वारा प्रादुर्भाव को प्राप्त होने से "परोक्ष" के रूप में जाना जाता है, और अंतःकरण, इन्द्रिय परोपदेश, उपलब्धि संस्कार या प्रकाशादिक सब परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्यपर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान वह केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से "प्रत्यक्ष" के रूप में जाना जाता है।"

उपर्युक्त लक्षण के द्वारा स्पष्ट है कि कोई की अपेक्षा रखे बिना सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, बाकी ज्ञान परोक्ष हैं। ऐसा सर्वदेश प्रत्यक्ष ज्ञान तो मात्र केवली भगवान को ही होता है अर्थात् आत्मा के हर एक प्रदेश एवं प्रत्येक गुण तो प्रत्यक्ष केवली को ही होते हैं, छद्मस्थ को नहीं। लेकिन सभी गुणों का अभेद संवेदन स्वाद तो निर्विकल्प दशा प्राप्त जीव को प्रत्यक्ष ही होता है। ज्ञान की अपेक्षा तो वह ज्ञान परोक्ष ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान में, जाति की एवं विषय की सम्यक्ता की अपेक्षा अन्तर नहीं है मात्र निर्मलता विशदता की अपेक्षा अंतर है, परोक्षामुख परिच्छेद २ के सूत्र ३ में कहा है कि :—

"विशदं प्रत्यक्षम्" ज्ञान की विशदता प्रत्यक्ष है। इसीप्रकार आत्मा को विषय की जानकारी जो निर्णय की अपेक्षा आगम, अनुमान, आदि के द्वारा होती है, वह भी परोक्ष प्रमाण है। ज्ञानी को आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान आगम द्वारा समझकर निर्णय करके अनुमान ज्ञान द्वारा भी यथार्थता पूर्वक परोक्ष ही होते हैं, वह भी प्रमाण है अर्थात् आगम अपेक्षा सत्यार्थ विषय का ज्ञान करता है और वही स्वरूप, निर्विकल्प दशा में विशेष निर्मल एवं विशदता को प्राप्त होकर, अनुभव में आ जाता है, मात्र विकल्प नहीं रहता, तब वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। वही ज्ञान गुणस्थान अनुसार बढ़ते-बढ़ते पूर्णता को प्राप्त अर्थात् केवलज्ञान

हो जाता है। ज्ञानी को स्वसंवेदन के काल में जो अतीन्द्रिय आनंद अनुभव में आया उसका संवेदन, मतिज्ञान के धारणा ज्ञान में बस जाता है तथा अनंतानुबंधी का अभाव हो जाने से, अनन्त गुणों की आंशिक निर्मलता की प्रगटता भी साथ ही वर्तने लगती है। इसही को जिनवाणी में परणति के नाम से कहा गया है, इसका वेदन ज्ञानी को निरंतर वर्तता ही रहता है। सविकल्प दशा में भी वह वेदन तो निरंतर वर्तता ही रहता है। इसलिये ही ज्ञानी के ज्ञान में अपना त्रिकाली ज्ञायक भाव हमेशा मुख्य बना रहता है। इस ज्ञानी का ज्ञान नयात्मक हो जाने से इसके ऐसे ज्ञान को निश्चय नय कहा गया है। ज्ञानी को हमेशा इस विषय की मुख्यता वर्तती रहती है, इसी कारण मुख्य को निश्चय कहा गया है।

उसी समय साथ में ही वर्तने वाली अधूरी अथवा विकारी जितनी भी पर्यायें अथवा ज्ञेय हैं उनका भी ज्ञान तो आत्मा को वर्तता ही है, वे सब आत्मस्वभाव के अनुरूप नहीं होने से वास्तव में आत्मा का रूप नहीं हैं, लेकिन फिर भी उनको आत्मा ही कहा जाता है। इसलिये उस ज्ञान को व्यवहार नय कहा गया है; और ज्ञानी को निरंतर उसके प्रति हेय बुद्धि होने से गौणता बनी रहती है, इसलिये गौण सो व्यवहार ऐसा कहा गया है।

उस संवेदन की अपूर्वता का ज्ञान हो जाने से व परिणति बनी रहने से उसका आंशिक वेदन भी वर्तने के कारण, रुचि का विषय स्व बन जाता है। वह अनुभूति जो ज्ञान का विषय बनकर धारणा ज्ञान में निरंतर बनी रहती है एवं परिणति निरंतर वर्तने से रुचि का भी विषय होने से स्मृति में भी आती रहती है, वह स्व के अतिरिक्त अन्य विषयों का उपयोगात्मक ज्ञान होते हुए भी उसमें एकत्व नहीं होने देती। पर की ओर की अर्थात् ज्ञेयमात्र की ओर की रुचि सहज ही मन्द पड़ जाती है। उनकी ओर उपेक्षा बुद्धि वर्तती रहने से, वृत्ति स्व की ओर आकर्षित बनी रहती है और उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यही कारण है कि उसकी साधक दशा

निरंतर बनी रहती है एवं शुद्धि, बृद्धि को प्राप्त होती रहती है। ऐसा जीव ही जिनवाणी में मोक्षमार्गी नाम पाता है।

नयज्ञान की परिभाषा

नयज्ञान की परिभाषा राजवार्तिक ३-१ सूत्र ३३ में निम्नप्रकार बताई है:—

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपकोनयः"

"प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष प्ररूपण करने वाला नय है।"

द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा १७१ में कहा है कि

"वत्थुपमाणविसयं णय विसयं हवई वत्थुएकंसं।
जं दोहि णिण्णयदट्ठं तं निक्खेवे हवइ विसंय॥"

"वस्तु प्रमाण का विषय है और वस्तु का एक अंश नय का विषय है; तथा जो अर्थ, प्रमाण और नय से निर्णीत होता है, वह निक्षेप का विषय है।"

उपर्युक्त परिभाषाएँ भी, नयात्मक ज्ञान ज्ञानी का ही होता है, यह सिद्ध करती हैं।

इसप्रकार प्रमाणज्ञान द्वारा गृहीत विषय को अर्थात् अपनी आत्मा को जानकर, पहिचानकर, नयज्ञान के प्रयोगपूर्वक, द्रव्यार्थिकनय के विषय को मुख्य करके, पर्यायार्थिक नय के विषय को गौण रखते हुए, मुख्य विषय में स्थिरता बढ़ाता हुआ, पूर्णता प्राप्त कर लेता है। फलस्वरूप पर्यायार्थिक नय के विषय की अशुद्धता स्वतः ही क्रमशः क्षीण होती हुई नष्ट हो जाती है। इस ही का नाम मोक्ष दशा है और यही आत्मार्थी का प्रयोजन था, जो उपरोक्त प्रकार से सिद्ध हो जाता है।

प्रमाणज्ञान का विषय

प्रमाणज्ञान का विषय संपूर्ण पदार्थ अर्थात् अपना द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक संपूर्ण आत्मा होता है। इसमें द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत

त्रिकाली ज्ञायक अपना शुद्धात्मा एवं पर्यायार्थिकनय की विषयभूत अपने आत्मा में अभेद रूप से बसे हुए अनंत गुण एवं द्रव्य की व गुणों की सभी पर्यायें समावेश हैं, दोनों नयों के विषयों को मिलाकर संपूर्ण द्रव्य जो अपना आत्म पदार्थ है, वह प्रमाणज्ञान का विषय है। प्रवचनसार गाथा ८७ में पदार्थ की व्याख्या निम्नप्रकार की गई है :—

गाथार्थ :— द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायें "अर्थ" नाम से कही गई हैं। उनमें गुणपर्यायों का आत्मा द्रव्य है गुण और पर्यायों का स्वरूपसत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं है इसप्रकार (जिनेन्द्र) का उपदेश है।

टीका :— द्रव्य, गुण और पर्यायों में अभिधेय भेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से वे "अर्थ" हैं। अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में वाक्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद न देखें तो "अर्थ—ऐसे एक ही वाचक शब्द से ये तीनों पहिचाने जाते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणज्ञान के विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवली भगवान को क्षायक ज्ञान में ही होता है, छद्मस्थ के क्षयोपशम ज्ञान में नहीं होता। लेकिन उक्त विषयों को छद्मस्थ अपने ज्ञान में नयों के माध्यम से क्रमशः समझकर यथार्थ निर्णय कर सकता है। उस निर्णय करने वाले ज्ञान को द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय कहा गया है। उक्त यथार्थ निर्णय के माध्यम से अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझकर, अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये पूर्वकथित निश्चय-व्यवहार नयों के ज्ञान द्वारा, व्यवहारनय के विषयों को गौण अर्थात् निषेध करता हुआ, निश्चयनय के विषय को मुख्य बनाकर आरूढ़ होता हुआ, उसमें ही एकाग्रता करता हुआ आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है।

इस ही का समर्थन प्रवचनसार की गाथा २३२ व २३३ के भावार्थों से प्राप्त होता है —

"भावार्थ :— आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता,

पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धाजनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती, और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-वर्तनरूप प्रवर्तमान शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता, इसलिये मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप आगम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है" ॥ २३२ ॥

"भावार्थ :— आगम की पुर्यपासना से रहित जगत को आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभव न होने से "यह जो अमूर्तिक आत्मा है सो मैं हूँ, और ये समानक्षेत्रावगाही शरीरादिक वह पर हैं, इसी प्रकार "ये जो उपयोग है सो मैं हूँ और ये उपयोग मिश्रित मोहरागद्वेषादिभाव हैं सो पर हैं" इसप्रकार स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता तथा उसे आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न होने से, मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूँ" ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता।

इसप्रकार जिसे स्व-पर ज्ञान तथा परमात्मज्ञान नहीं है उसे, ज्ञान न होने से मोहादिद्रव्य भावकर्मों का क्षय नहीं होता, तथा परमात्मनिष्ठता के अभाव के कारण ज्ञप्तिका परिवर्तन नहीं टलने से ज्ञप्तिपरिवर्तन रूप कर्मों का भी क्षय नहीं होता।"

इसप्रकार आत्मोपलब्धि प्राप्त करने एवं स्थिरता प्राप्त करने के लिये भी आगमपूर्वक नयज्ञान द्वारा अनेकताओं के बीच ही छिपे हुए, शुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकभाव एक, को मुख्य बनाकर एवं अनेकताओं को गौण करते हुए, उसी में उपयोग को एकाग्र करने से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। अतः इस उपलब्धि के लिये नयज्ञान अत्यन्त कार्यकारी है।

नयज्ञान के भेद

वह नयज्ञान सहज ही दो भागों में विभाजित हो जाता है। इसका वर्णन आलापपद्धति में दिया है उसका हिंदी अनुवाद निम्नप्रकार है :—

नय :— प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को गृहण करने का नाम नय है। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। ..जो नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक करके एक स्वभाव में स्थापित करता है वह नय है ॥ १ ८१ ॥

द्रव्यार्थिक नय :— द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है ॥ १८४ ॥

पर्यायार्थिक नय :— पर्याय ही जिसका अर्थ प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है ॥ १९१ ॥

उपर्युक्त दोनों नय आगम के नय हैं। इनके विषय छहों द्रव्य होते हैं। लेकिन अपनी इस पुस्तक में एक मात्र आत्मद्रव्य को ही मुख्य रखकर इन नयों की भी चर्चा कर रहे हैं।

अध्यात्मनय :— अध्यात्म भाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं ॥ २१२ ॥

मूलनय :— मूलनय दो हैं निश्चय और व्यवहार ॥ २१३ ॥

विषय :— उनमें निश्चय अभेद को विषय करता है और व्यवहारनय भेद को विषय करता है ॥ २१४ ॥

निश्चयनय :— अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का कथन-निश्चय करना निश्चयनय है ॥ २०४ ॥

व्यवहारनय :— भेद और उपचार रूप से वस्तु का कथन-व्यवहार करना व्यवहारनय है ॥ २०५ ॥

उपचार :— उपचार नाम का कोई नय नहीं है इसलिये इसे अलग से नहीं कहा है। मुख्य के अभाव में प्रयोजन तथा निमित्त के होने पर उपचार किया जाता है ॥ २११ ॥

इसप्रकार उपर्युक्त नयों की परिभाषाओं, उद्देश्यों, विषय आदि को समझकर, आत्मोपलब्धि रूप अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये, यथास्थान,

यथायोग्य, नय के प्रयोग द्वारा, मुख्य-गौण व्यवस्था को अपनाते हुए, अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिए, नयज्ञान जानने की इसी में सार्थकता है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रयोजन

उपर्युक्त नयज्ञान के भेदों के अर्न्तगत हम दोनों प्रकार के नयों की उपर्युक्त परिभाषाएँ समझ चुके हैं। तदनुसार, द्रव्यार्थिकनय का प्रयोजन तो द्रव्यांश को जानना है और पर्यायार्थिकनय का प्रयोजन पर्यायांश एवं उसके निमित्त आदि को जानना है। तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ जीव को प्रमाणज्ञान तो होता नहीं, उसके अभाव में जब गुण-पर्याय युक्त, उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक, संपूर्ण सत् पदार्थ को जानना हो तो उपर्युक्त दोनों नयों के क्रमशः प्रयोग द्वारा ही जाना जा सकता है। समग्र पदार्थ को जानने का अन्य कोई उपाय नहीं है। जब पदार्थ के, द्रव्यांश-त्रिकाली ज्ञायक भाव को, जानने के लिये उसको मुख्य विषय बनाया जावे उस समय द्रव्यार्थिक नय का प्रयोग ही कार्यकारी होगा। उसके द्वारा नित्य भाव-त्रिकालीभाव की ही पूर्ण जानकारी प्राप्त होगी। उस समय पर्यायार्थिक नय के संपूर्ण विषय को अत्यंत गौण अर्थात् नहींवत् गौण करके ही त्रिकाली भाव को समझा जा सकता है।

इसीप्रकार जब पर्यायार्थिकनय के विषय का ज्ञान करना हो अथवा समझना हो, तब वह मुख्य होगा, उसको जानने-समझने के लिये पर्यायार्थिकनय ही कार्यकारी होगा। उसके द्वारा पर्याय अर्थात् अनित्य भाव, उत्पादव्ययअंश एवं पर्याय से संबंधित समस्त परिकर उस नय का विषय बनेगा, उसकी जानकारी प्राप्त होगी। लेकिन उस समय द्रव्यार्थिकनय के विषय को अत्यन्त गौण-नहींवत् करके ही वस्तु समझी जा सकती है।

इस संबंध में प्रवचनसार गाथा ११४ की टीका से समर्थन प्राप्त होता है।

टीका :— वास्तव में सभी वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः १ सामान्य और २ विशेष को जाननेवाली दो ऑखें हैं :— १ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

भावार्थ :— द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य सामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिये द्रव्य अनन्य अर्थात् वह का वही भासित होता है और पर्यायार्थिकनय रूपी दूसरी एक चक्षु से देखने पर द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है।"

इसप्रकार द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय के प्रयोग द्वारा सम्पूर्ण सामान्य विशेषात्मक वस्तु को मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक समझा जा सकता है व उसका ज्ञान भी किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव को अपने आत्मद्रव्य के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है। इसलिये जब तक वह उसको विस्तारपूर्वक नहीं समझेगा तो उसको अपने आत्मा के कल्याण का मार्ग कैसे प्राप्त हो सकेगा ? इसलिये आत्मकल्याण के उद्देश्य से, द्रव्यार्थिकनय के द्वारा बताया गया, अपने त्रिकालीस्वभाव का स्वरूप समझकर, उसरूप परिणमन करने की भावना उत्पन्न होती है। इसी प्रकार अपने अंदर उत्पन्न होने वाले रागद्वेषादि भाव एवं आकुलतारूपी भावों का स्वरूप समझकर, ये भाव नवीन मेरी ही पर्याय में उत्पन्न होते हैं, लेकिन पर्याय ही अनित्यस्वभावी है, नाश होने योग्य है, अतः उनका उत्पादन रुक जाना चाहिये। पर्यायार्थिकनय के द्वारा पर्याय का स्वरूप समझने से, इसप्रकार की भावना जाग्रत होती है। आगम के आधारपूर्वक, सत्समागम द्वारा यथार्थ मार्ग प्राप्तकर, निश्चय-व्यवहार नयों के स्वरूप को समझकर उसके यथार्थ प्रयोग द्वारा आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयों का प्रयोग, मुख्यता से वस्तु का स्वरूप समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है साथ ही आत्मा की साधना

के लिये भी इन नयों का प्रयोग कार्यकारी होता है।

निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोजन

निश्चय-व्यवहारनय का उद्देश्य तो गुण-पर्यायवान-नित्यानित्यात्मक द्रव्य में, अपना वीतरागता रूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए, निश्यचयनय के विषयभूत अपने त्रिकाली ज्ञायकभाव को मुख्य कर 'उपादेय बुद्धि प्रगटकर' तथा व्यवहार नय के विषयभूत और ज्ञान में ज्ञेय के रूप में ज्ञात होते हुए, अनेक प्रकार के भेदरूप एवं उपचरितरूप अनित्य भावों को गौण कर हेय बुद्धि प्रगट करते हुए, अपनी परिणति को, अभेद-अनुपचरित ऐसे त्रिकाली ज्ञायकभाव में एकाग्रकर, आत्मोपलब्धि प्राप्त कराना है। साधकजीव अपने उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिये, अपनी भूमिकानुसार जिसको मुख्य बनाता है वही, उस उस भूमिका में उसका उपादेय एवं निश्चय हो जाता है। अन्य भाव, पर्याय में एवं ज्ञान में ज्ञेय रूप में विद्यमान होते हुए भी, उनको व्यवहार मानकर, हेय बुद्धिपूर्वक गौण करते हुए, निश्चय के विषय को मुख्य करते हुए, उत्तरोत्तर अपनी भूमिका की वृद्धि करते करते, पूर्ण दशा प्राप्त कर लेता है।

इसप्रकार दोनों नयों के प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, उनकी परिभाषा-अपेक्षाएं व आपस के अंतर को समझकर यथायोग्य प्रयोग द्वारा आत्मोपलब्धि प्राप्त करना चाहिए। परमभावप्रकाशक नयचक्र में पृष्ठ ४१ पर निश्चय-व्यवहार नय विषयों का संक्षेपीकरणपूर्वक अन्तर निम्नप्रकार स्पष्ट किया है :—

"उक्त समस्त परिभाषाओं पर ध्यान देने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

१. निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का भेद।

२. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है और व्यवहारनय उपचरित।

३. निश्चयनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय असत्यार्थ ।

४. निश्चयनय आत्माश्रित कथन करता है और व्यवहारनय पराश्रित।

५. निश्चयनय असंयोगी कथन करता है और व्यवहारनय संयोगी।

६. निश्चयनय जिस द्रव्य का जो भाव या परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है; पर व्यवहारनय निमित्तादि की अपेक्षा लेकर अन्य द्रव्य के भाव या परिणति को अन्यद्रव्य तक कह देता है।

७. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र कथन करता है, जबकि व्यवहार अनेक द्रव्यों को, उनके भावों, कारण-कार्यादिक को भी मिलाकर कथन करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय और व्यवहार की विषय-वस्तु और कथन-शैली में मात्र भेद ही नहीं, अपितु विरोध दिखाई देता है, क्योंकि जिस विषय वस्तु को निश्चयनय अभेद अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकते।

जैसा कि समयसार में कहा है :—

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कटठो॥

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार, मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद ही नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है। इसीप्रकार निश्चय मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्यवहार द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खण्डन भी करता है।

इसप्रकार निश्यचनय का कार्य परसे भिन्नत्व और निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तननिमित्तक संयोगीभावों का ज्ञान कराना भी है। यही कारण है कि निश्चयनय का कथन स्वाश्रित और व्यवहारनय का कथन पराश्रित होता है तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ-सच्चा और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ- उपचरित कहा जाता है।"

— परमभाव प्रकाशक नयचक्र

इसप्रकार अपनी भूमिका के अनुसार, अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, साधक जीव जिन भावों को पूर्व भूमिका में निश्चय मानकर मुख्य करता है, उन्हीं भावों को आगे की भूमिका में व्यवहार मानकर गौण कर हेय कोटि में कर देता है, इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का मुख्य प्रयोजन तो आत्मसाधना का है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक एवं निश्चय-व्यवहारनय में अंतर

संक्षेप में कहा जावे तो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रयोजन तो वस्तुस्वरूप समझने के लिये मुख्य रूप से उपयोगी है और निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोजन, आत्म साधना के लिये मुख्यरूप से उपयोगी होता है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के विषयों का, ज्ञान में ज्ञात होना तो अनिवार्य है ही, क्योंकि वस्तु ही गुण-पर्यायात्मक अर्थात् नित्यानित्यात्मक है। दोनों नयों के विषयों को मुख्य-गौण व्यवस्थापूर्वक समझने से, समग्र वस्तु के स्वरूप को समझा जाता है। लेकिन निश्चय-व्यवहारनय के प्रयोग में, उस ही वस्तु के दोनों पक्षों को जानते हुए भी आत्मोपलब्धि के उद्देश्य से, अपने प्रयोजन सिद्धि में बाधक विषय को व्यवहार मानकर हेय बुद्धि से गौण करते हुए और साध्य को निश्चय मानकर उपादेय बुद्धि

से मुख्य करते हुए मानने व जानने से साधकजीव आत्मोपलब्धि प्राप्त कर लेता है।

आत्मतत्त्व की यथाथ समझ करने के लिये तो मुख्य-गौण व्यवस्था, मुख्यता से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के प्रयोग द्वारा, उपयोगी होती है; और आत्मोपलब्धि के लिये वही मुख्य-गौण व्यवस्था, मुख्यतया निश्चय-व्यवहारनय के प्रयोग द्वारा उपयोगी होती है। जिसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय द्वारा वस्तु को समझा जाता है, उसीप्रकार व्यवहारनय के द्वारा भी वस्तु को समझा जाता है लेकिन हेय बुद्धिपूर्वक समझा जाता है।

इसही विषय का समर्थन परमभावप्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ 53 पर निम्नप्रकार प्राप्त होता है एवं पृष्ठ ५४-५५ पर भी निम्न शब्दों में पुष्टि की गई है :—

जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाध-प्रतिपाद्य संबंध है, वहीं दूसरी ओर व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक संबंध भी है।

निश्चय प्रतिपाद्य है और व्यवहार उसका प्रतिपादक है। इसीप्रकार व्यवहार निषेध्य है और निश्चय उसका निषेधक है।

समयसार में कहा है :—

"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाण॥ २७२॥

इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध हो गया जानो। निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

इस संबंध में पंचाध्यायीकार के विचार भी दृष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं :—

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात्॥
व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवों वा।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः॥ २॥

व्यवहारनय प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और निश्यचयनय उसका प्रतिषेधक अर्थात् निषेध करने वाला है। अतः व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है।

जैसे, द्रव्य सद्रूप है और जीव ज्ञानवान है- ऐसा कथन व्यवहारनय है और "न" इस पद द्वारा निषेध करना ही निश्चयनय है, जो कि सब नयों में मुख्य है, नयाधिपति है।"

व्यवहार का काम भेद करके समझाना है, संयोग का भी ज्ञान कराना है, सो वह अभेद-अखण्ड वस्तु में भेद करके समझाता है, संयोग का ज्ञान कराता है; पर भेद करके भी वह समझाता तो अभेद-अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है; तभी तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कहा जाता है। यदि वह अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्व को न समझावे तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कौन कहे?"

निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्व की ओर ले जाना है। यही कारण है कि वह अपने विरोधी प्रतीत होने वाले अभिन्न-मित्र व्यवहार का भी बड़ी निर्दयता से निषेध कर देता है। साथी समझकर किंचित् मात्र भी दया नहीं दिखाता; यदि दिखावे तो अपने कर्तव्य का पालन कैसे करे ?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति

के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।"

उपरोक्त प्रकार निश्चय, व्यवहार का निषेधक है यह बात दृढता के साथ स्पष्ट करने के पश्चात् उक्त पुस्तक के पृष्ठ ६१ में दोनों नयों में निषेध्य-निषेधक भाव होते हुए भी इसके उपयोग में साधक को सावधानी बरतने के लिये निम्न शब्दों में सावधान किया है :—

"हाँ, यह बात अवश्य है कि व्यवहार का निषेध व्यवहारातीत होने के लिए परिपक्वावस्था में ही होता है, इससे पहले नहीं। यदि पहले करने जावेंगे तो न इधर के रहेंगे न उधर के। परिपक्वावस्था माने वृद्धावस्था नहीं, अपितु व्यवहार द्वारा परिपूर्ण प्रतिपादन होने के बाद, निश्चय की प्राप्ति होना-लेना चाहिए।

जैसे नाव में बैठे बिना नदी पार होंगे नहीं और नाव में बैठे-बैठे नदी पार होंगे नहीं। नाव में नहीं बैठेंगे तो रहेंगे इस पार और नाव में बैठे रहेंगे तो रहेंगे मझधार। नदी पार करने के लिए नाव में बैठना भी होगा और नाव को छोड़ना भी होगा; अर्थात् नाव में से उतरना भी होगा।

उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिए व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिए व्यवहार को छोड़ना भी होगा।"

— परमभाव प्रकाशक नयचक्र

इसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के एवं निश्चय-व्यवहारनय के उद्देश्य को समझकर, दोनों की उपयोगिता को भी अंतर में समझना

चाहिए। तत्पश्चात् द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय द्वारा गुण-पर्यायात्मक वस्तु के स्वरूप को समझकर उस ही वस्तु को हेय-उपादेय बुद्धिपूर्वक समझकर, त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव के स्वरूप को समझना चाहिए। पश्चात् गुणभेद एवं पर्याय की स्थिति ज्ञान में ज्ञात होते हुए भी, उन समस्त व्यवहारनय के विषयों को गौण कर, निषेधकर, एक मात्र निश्चयनय की विषयभूत वस्तु में अपनी परिणति को अभेद करना, यही दोनों प्रकार के नयों के ज्ञान की सार्थकता है। ऐसा समझकर साधक जीव को अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार यथास्थान-यथायोग्य उक्त नयों के प्रयोग द्वारा आत्मोपलब्धि प्राप्त कर लेनी चाहिए, यही मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

नित्यानित्यात्मक आत्मवस्तु का स्वभाव

प्रमाणज्ञान का विषय तो अभेद-अखंड पूरा आत्म पदार्थ होता है। देखो सुखी होने का उपाय भाग-४ पृष्ठ १६० से १७० तक। पदार्थ तो द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक हैं, उसमें से द्रव्य स्वभाव तो ध्रुवांश नित्य अपरिणामी उत्पाद-व्यय निरपेक्ष अकर्ता स्वभावी ज्ञायक तत्व, कारण-परमात्मा है। वह अनंत गुणों का समुदाय रूप, अभेद, अखण्ड पिंड है। अनंत प्रभुता संपन्न अखण्ड एक है। यह ही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का और परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है। वह एक ही परम आराध्य, ध्यान का ध्येय, शुद्ध ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धा का श्रद्धेय एवं साधक का साध्य है। इसही के आश्रय से एवं इसही में उपयोग एकाग्र होने से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। कार्यपरमात्मा बनने का आधारभूत कारणपरमात्मा भी यह ही है। इसही के आश्रय से पर्याय में वर्तने वाली अशुद्धि अथवा अधूरेपन का अभाव होकर, पूर्ण निर्विकारी दशा प्राप्त होती है। इसलिये मात्र एक द्रव्य स्वभाव में ही एकत्व-ममत्व करने योग्य है। इसही के आश्रय से द्रव्य-भाव-संसार का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होगी।

पर्याय का स्वभाव तो इससे एकदम विपरीत है। निरतंर परिणमनशील उत्पाद-व्यय स्वभावी ही है। शुद्धाशुद्ध एवं हीनाधिक रूप परिवर्तनशील स्वभावी है। कभी भी एकरूप रहती ही नहीं है। द्रव्य तो अपरिणामी बना रहता है लेकिन उसी समय पर्याय तो परिणमन करती ही रहती है। इसीप्रकार द्रव्य तो निरंतर परमशुद्ध ही रहता है लेकिन उसी समय पर्याय तो अपनी योग्यतानुसार अशुद्ध अथवा शुद्ध ही वर्तती रहती है। पर्याय के परिणमनकाल में भी द्रव्य तो अपरिणामी-कूटस्थ ही बना रहता है लेकिन पर्याय तो उसकी किंचित् भी अपेक्षा किये, बिना परिणमती ही रहती है, और अपनी योग्यतानुसार पर की अपेक्षा कर, निमित्त बनाकर, स्व की उपेक्षा कर विपरीत परिणमन करती रहती है। इसप्रकार पर्याय तो द्रव्य से विपरीत स्वभावी ही है।

उपर्युक्त स्थिति होते हुए भी दोनों स्थितियाँ एक साथ ही एक ही द्रव्य में एक ही समय में विद्यमान रहती हैं व अबाधगति से वर्तती रहती हैं। दोनों का क्षेत्र एक ही होते हुए, आत्मा के असंख्य प्रदेश ही हैं, काल एक ही समय है, स्वामी दोनों का एक आत्मद्रव्य ही है। लेकिन दोनों के भावों में अर्थात् स्वभाव में भिन्नता अवश्य है। फिर भी दोनों के कार्यों को कोई बाधा नहीं पहुँचाता।

पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा ११-१२-१३ में भी निम्नप्रकार कहा है :—

१ द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है, सद्भाव है। उसी की पर्यायें विनाश, उत्पाद और ध्रुवता करती हैं ॥ ११ ॥

२ पर्यायों रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होती, दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं ॥ १२ ॥

३ द्रव्य बिना गुण नहीं होते, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता, इसलिये द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्तिभाव अभिन्नपना है ॥ १३ ॥

उपर्युक्त परिणमन में एक विशेषता और भी है कि आत्मा तो अनन्त गुणों का समुदाय रूप अखण्ड पिंड एक है और परिणमन उस अखण्ड पिंड का होता है। इसलिये उस एक समय की एक पर्याय में, अनन्त गुणों के अनेक स्वभावों वाला मिश्र अभेद रूप एक परिणमन ही होता है अर्थात् उस एक समयवर्ती, एक पर्याय में अनन्त गुणों का मिला-जुला एक ही स्वाद-वेदन अनुभव में आता है और आना भी चाहिए। ज्ञान भी उस मिश्र अभेद परिणमन को ही जानता है।

इस संबंध में आत्मा की किसी एक समय की पर्याय का विश्लेषण करें तो विषय विशेष स्पष्ट हो सकेगा। जैसे क्षायकसम्यग्दृष्टि ज्ञानी की आत्मा के परिणमन को, भिन्न-भिन्न गुणभेद की दृष्टि से अर्थात् भेद करके समझें तो, उसके अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त सामान्य गुण ऐसे हैं, जिनका परिणमन तो एक शुद्ध रूप ही सदैव होता रहता है, उनमें कोई अशुद्धता विकृति कभी होती ही नहीं है। लेकिन आत्मा के अन्य अनेक विशेष गुण-श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य सुख आदि ऐसे हैं, जिनके परिणमन शुद्ध भी होते हैं तथा अशुद्ध भी। जैसे श्रद्धागुण सम्यक्रूप भी और मिथ्यारूप भी होता है। इसीप्रकार चारित्र भी दोनों रूपों से परिणमता है। हीनाधिक रूप में परिणमता हुआ ज्ञान भी हमारे अनुभव में आता है। आत्मोपलब्धि में जो वीर्य काम करे, वह सम्यक् परिणमन है और ज्ञेयों में एकत्व करने में जो वीर्य बल प्रदान करे वह मिथ्या परिणमन है। दूसरे प्रकार सुख और दुःख दोनों का परिणमन तो एक-दूसरे के विपरीत है ही, यह तो हमको अनुभव भी हो रहा है। इसीप्रकार अन्य अनन्त गुणों का भी दोनों प्रकार का परिणमन होता हुआ अनुभव में आता है। उपरोक्त सभी गुण स्वतंत्र होने के कारण, एक दूसरे से अप्रभावित रहते हुए ही, अपने-अपने स्वतंत्र परिणमन करते रहते हैं, तथा सबका सम्मिलित परिणमन होने से स्वाद भी सम्मिलित रूप से एक

ही होता है। क्योंकि सबका द्रव्य तो एक ही है और परिणमन तो द्रव्य का ही होता है। अतः सभी स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनों का मिला हुआ स्वाद तो एक ही आ सकेगा। उस मिश्र स्वाद में अलग-अलग गुणों में से एक-एक के स्वाद को भिन्न कर लेना अशक्य जैसा ही है। लेकिन यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मिश्र स्वाद जो मुझे अनुभव में आ रहा है, वह आत्मा का वास्तविक स्वाद नहीं है, बल्कि विकृतियों सहित वाली पर्याय का स्वाद है। जैसे किसी वैद्य ने १००० औषधियाँ मिलाकर एक रयासन की छोटी-सी गोली बनाई, वह छोटी-सी गोली शरीर में जाने पर सभी रसायनों का सम्मिलित कार्य होने लग जाता है, इससे निश्चित होता है कि १००० रसायनों के मिश्रण होने पर भी वे उस छोटी-सी गोली में अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व तो बनाये ही रहते हैं। इसीप्रकार उस एक समय की उत्पन्न हुई मिश्र पर्याय में सभी गुणों के शुद्ध-अशुद्ध सभी परिणमनों का मिश्र स्वाद ही रहता है। इसीप्रकार और भी विश्लेषण करें तो उसकी एक समय की प्रगट पर्याय में अनंतानुबंधी के अभावात्मक आंशिक शुद्धता अर्थात् वीतरागता है, साथ ही तीन कषायों के सद्भावात्मक अशुद्धि अर्थात् राग भी विद्यमान है। उस राग के भी अनेक भेद क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद में से भी कई कषायों के स्वाद, उस एक समय की चारित्र गुण की पर्याय में वर्तते हैं। उसमें भी हर समय एक कषाय के उदय एक सरीखे नहीं रहने से स्वाद में भी तीव्र मंदरूप अनेक तारतम्यताएं पड़ जाती हैं। इसीप्रकार अन्य अनेक गुणों के भी तारतम्यतापूर्वक होने वाले परिणमनों का भी स्वाद उस एक समयवर्ती पर्याय में वर्तता है। उन सब का सम्मिलित स्वाद हर समय वेदन में आता है। उन सब में से अपने आत्मद्रव्य के स्वाभाविक भाव को पहिचानकर, भिन्न स्वाद, लेना महान कठिन कार्य लगता है और है भी। लेकिन सबका

अभेद स्वाद आने पर भी, सबका भिन्न-भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। जब अभेदरूप में भी सबकी सत्ता भिन्न-भिन्न है तो उनका उत्पाद-व्यय भी उसीप्रकार होना अवश्यंभावी है। जब स्वतंत्र अभेद उत्पाद-व्यय है तो हर समय भिन्न-भिन्न स्वाद का आना भी अवश्यंभावी है।

ऐसी विकट एवं कठिन परिस्थिति में ज्ञान, स्व और पर का भेद कैसे करे? यह एक जटिल समस्या है। अज्ञानी को तो हर समय आत्मा विकारी ही ज्ञान में ज्ञात हो रहा है, इसलिये वह उस ही आत्मा को स्व के रूप में मानता चला आ रहा है। जिनवाणी में जो आत्मा का स्वरूप बताया गया है उसका तो इसको कभी परिचय भी हुआ नहीं। ऐसे अपरिचित अव्यक्त आत्मा को कैसे प्राप्त किया जा सकेगा व समझा जा सकेगा? उपरोक्त स्थिति आत्मार्थी को बहुत कठिन एवं जटिल लगती है। बिना जाने स्व और पर का भेद कैसे किया जा सकेगा?

उपर्युक्त जटिल समस्या का समाधान जिनवाणी में विशद रूप से बताया गया है, उसके द्वारा आत्मस्वभाव को स्पष्ट समझा जा सकता है। पंडित टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ २५८ पर निम्नप्रकार बताया है —

"वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं-जैसा उपदेश दिया है वैसा याद कर लेना तथा परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिए, सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही हैं या अन्यथा हैं? वहाँ अनुमानादि आगम, अनुमान एवं युक्ति आदि प्रमाण से बराबर समझे अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रबल भासित हो उसको सत्य जाने।"

इसही प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ५ की टीका में कहा है, उसमें भावार्थ निम्नप्रकार है —

"आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, पर और अपर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन - यों चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं।"

उपर्युक्त आगम वाक्यों से स्पष्ट है कि आगम के कथन को सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित तथा परम्परा से आचार्यों द्वारा द्रव्यश्रुत के रूप में गुंथित मानकर उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, आस्थापूर्वक अभ्यास करके एवं उसके कथन को युक्ति के माध्यम से समझकर, तदनुसार अनुमान में लाकर, समझने का प्रयास करें तो, अव्यक्त एवं अपरिचित आत्मा का स्वरूप भी स्पष्टतया समझ में आ जाता है। तत्पश्चात् अपनी रुचि को पर पदार्थों से हटाकर आत्मसन्मुख करके, उपयोग उसमें एकाग्र हो तो वह आत्मा स्वयं को अनुभव में आ जाता है अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्ष हो जाता है। "निर्णय का विषय क्या है?" इसकी जानकारी लेखक की सुखी होने का उपाय भाग-२ के पृष्ठ २८ से ३४ के द्वारा ज्ञात करें।

उपर्युक्त प्रकार के द्रव्य का स्वभाव एवं पर्याय का स्वभाव जानकर एवं समझकर, शांति प्राप्त करने के लिये, किसका आश्रय करना, किसके आश्रय करने से मुझे शांति प्राप्ति होगी, यह निर्णय करना आत्मार्थी का परम कर्तव्य है। पर्याय जो स्वयं अनित्य स्वभावी है, जिसका जीवनकाल ही मात्र एक समय का है, जो प्रत्येक समय जीवन और मरण को भोग रही है, जिसमें अनेकताओं की भरमार है, उसका आश्रय करने से मुझे शांति कैसे प्राप्त हो सकेगी? यह अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। उस अनित्य पर्याय का आश्रय करने से अर्थात् उसमें अपनापन मानने से तो मुझे प्रत्येक क्षण जीवन-मरण का दुःख भोगना पड़ेगा आदि-आदि विचारों

के द्वारा इस निर्णय पर पहुँचना चाहिए कि पर्याय मात्र, मेरे लिये आश्रयभूत नहीं हो सकती। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की गाथा ९३ में भी कहा है कि —

"पदार्थ द्रव्य स्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं, और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायभूत जीव परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि है ॥ ९३ ॥

दूसरी ओर द्रव्य स्वभाव तो ध्रुव-नित्यस्वभावी एवं अनंत गुणों का समुदाय रूप अखंड-अभेद, द्रव्य है। जो अनित्य स्वभावी पर्याय के साथ रहते हुए भी कभी बदलता नहीं-परिवर्तन करता नहीं। वह पर्यायार्थिकनय से पर्यायों के साथ परिवर्तन करते हुए भी, स्वयं तो अपरिणामी ही बना रहा, एकरूप ही बना रहा। ऐसा द्रव्य स्वभाव ही मात्र आश्रय करने योग्य है। जिसका आश्रय लेने से अपनापन स्थापन करने से, पर्याय क्षण-क्षण में जीवन-मृत्यु करते हुए परिणमती रहती है, तो भी उसी समय में तो अजर-अमर ही हूँ एवं बना रहूँगा। जो स्वयं जीवन-मरण से मुक्त है, उस ही के आश्रय से मैं भी जीवन मुक्त से रहित परम सुख, परम आनंद का भोक्ता बन सकूंगा आदि-आदि श्रद्धा जाग्रत करना ही आत्मार्थी का परम कर्तव्य है। इसही का समर्थन प्रवचनसार की गाथा नं. २३२ से प्राप्त होता है, वह इसप्रकार है —

"श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के होती है, पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिये आगम में व्यापार मुख्य है ॥ २३२ ॥"

उपर्युक्त कथन से निश्चित होता है कि एकाग्रता ही एकमात्र आत्मानुभूति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। लेकिन जिस विषय में एकाग्र होना है, वह स्वयं ही अध्रुव अस्थिर हो तो वहाँ एकाग्रता संभव ही नहीं है।

अतः पर्याय का आश्रय अशांति का उत्पादक होगा एवं ध्रुवस्वभावीद्रव्य का आश्रय ही एकमात्र शांति प्रदाता हो सकता है। आगम के अभ्यासपूर्वक उक्त निर्णय पर पहुँचना चाहिए कि ध्रुवस्वभावी आत्मद्रव्य ही एकमात्र सारभूत है।

आत्मानुभूतिरूपी प्रयोजन सिद्धि में हेय-उपादेयता

मोक्षमार्ग में निश्चयनय अर्थात् निश्चयनय का विषय सदैव सर्वत्र ही उपादेय रहेगा और व्यवहारनय का विषय सदैव एवं सर्वत्र ही हेय रहेगा।

निश्चयनय तो वस्तु अर्थात् आत्मवस्तु को यथार्थ जैसी है वैसी ही बताता है। लेकिन वह आत्मवस्तु जिसके समझ में न आई हो अर्थात् जिसने नहीं पहिचाना हो, ऐसे अज्ञानी को उस अभेद अखंड वस्तु को ही, भेदकर के अथवा अन्य का उसमें उपचार करके भी उस ही की ओर संकेत करते हुए समझाने का अर्थात् पहिचान कराने का महान उपकार व्यवहारनय करता है। इस अपेक्षा ही व्यवहारनय को निश्चय का प्रतिपादक कहा गया है। लेकिन व्यवहानय के कथन जैसी ही और जितनी ही वस्तु होती नहीं, वस्तु तो अभेद-अखंड और अनुचरित जैसी थी वैसी ही रहती है। इसही कारण व्यवहारनय के विषय को आश्रय करने योग्य ही नहीं वरन् हेय भी कहा जाता है। लेकिन समझने के लिये भी अगर उसको हेय मानेगा तो वस्तु ही समझ में नहीं आवेगी और अगर वस्तु को ही व्यवहार के कथन जैसा और जितना आश्रयभूत मान लिया गया तो विपरीत मान्यता रूपी अज्ञान को और भी दृढ़ करके संसार वृद्धि करेगा। पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ६ में कहा भी है कि —

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्तत्यभूतार्थम्
व्यवहारमेव केवलमेवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥ ६॥

"टीका :— मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये अभूतार्थ ऐसा जो व्यवहारनय, उसका उपदेश करते हैं। (दूसरी लाइन का अर्थ आगे आवेगा)

अनादि का अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश बिना समझ नहीं सकता, इसलिये आचार्य महाराज व्यवहारनय के द्वारा उसको समझाते हैं, यही समयसार गाथा ८ में कहा है, "जैसे किसी म्लेच्छ को एक ब्राह्मण ने "स्वस्ति" शब्द कहकर आशीर्वाद दिया, तो उसे उसके अर्थ का कुछ बोध नहीं हुआ और वह ब्राह्मण की तरफ ताकता रहा। वहाँ एक दुभाषिया उससे म्लेच्छ भाषा में बोला कि यह ब्राह्मण कहता है कि "तेरा कल्याण हो" तब आनंदित होकर उस म्लेच्छ ने आशीर्वाद अंगीकार किया। ठीक इसी प्रकार आचार्य ने अज्ञानी जीव को "आत्मा शब्द कहकर उपदेश दिया लेकिन उसमें वह कुछ नहीं समझा और आचार्य की तरफ देखता रह गया। तब निश्चय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने व्यवहारनय के द्वारा भेद उत्पन्न करके गुण-गुणी भेद-विवक्षा द्वारा उसे बताया कि जो यह देखनेवाला, जाननेवाला और आचरण करने वाला पदार्थ है, वही आत्मा है, तब सहज परमानंद दशा को प्राप्त होकर वह आत्मा को निजस्वरूप से अंगीकार करता है।" इसप्रकार यह सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण दिया।

"आगे असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण देते हैं-जैसे घृत से संयुक्त मिट्टी के घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहते हैं। यहाँ कोई पुरुष जन्म से ही ऐसे घड़े को ही घी का घड़ा जानता है। जब कोई पुरुष घृत का घड़ा कहकर उसको सम्बोधन करता है, तभी वह समझता है और यदि उसे मिट्टी का घड़ा जो कि उसका वास्तविक रूप है कहकर संबोधन किया जाय, तो वह किसी दूसरे कोरे घड़े को समझ बैठता है, घी के घड़े को नहीं। निश्चय से विचार किया जाये तो घड़ा मिट्टी का ही है, परन्तु

उसको समझाने के लिये "घृत का घड़ा" कहकर ही संबोधित करना पड़ता है।" उसीप्रकार यह चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मजनित पर्याय से संयुक्त है, उसे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहते हैं, अज्ञानी जीव अनादि से उस आत्मा को देव, मनुष्य इत्यदि स्वरूप से ही जानता है, जब कोई उसे देव, मनुष्य वगैरह नाम से संबोधित करके समझावे तभी समझ पाता है और यदि आत्मा का नाम चैतन्यस्वरूप कहे, तो अन्य किसी परमब्रह्म परमेश्वर को समझ बैठता है। निश्चय से विचार करें तो आत्मा तो चैतन्यस्वरूप ही है, परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिये आचार्य, देव गति, जाति आदि के भेद द्वारा जीव का निरूपण करते हैं। इस तरह अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए आचार्य महाराज व्यवहार का उपदेश करते हैं। **"केवलं व्यवहारं एव अवैति यः तस्य देशना नास्ति"** जो जीव केवल व्यवहार ही का श्रद्धान करता है, उसके लिये उपदेश नहीं है।

निश्चयनय के श्रद्धान बिना केवल व्यवहार मार्ग में ही प्रवर्तन करने वाले मिथ्यादृष्टियों के लिये उपदेश देना निष्फल है।"

इसप्रकार अभेद अनुपचरित ऐसी अपनी यथार्थ आत्मवस्तु को पहिचानने रूपी प्रयोजन सिद्ध करने मात्र के लिए ही व्यवहारनय का उपयोग करके, तत्पश्चात् उसका आश्रय तो बिल्कुल छोड़ देना चाहिए, उसी में व्यवहारनय की सार्थकता है। क्योंकि उसका उद्देश्य तो उस आत्मवस्तु तक पहुँचाना मात्र था, वह उसने पूरा कर दिया उसके पश्चात् तो उसको पकड़ रखना भी उसके साथ तथा अपने साथ भी अन्याय होगा। इतना अवश्य है कि अज्ञानी को व्यवहार, यथार्थ आत्मवस्तु तक पहुँचाने अर्थात् ज्ञान कराने के लिये अज्ञानी की भूमिकानुसार अनेक-अनेक स्टेजों द्वारा अर्थात् टुकड़े कर-कर के उस वस्तु को समझाने का प्रयास करता है। जैसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मकान, रूपया, पैसा आदि को आत्मा

के कहा जाता है तथा उन पर वस्तुओं को भोगने वाला भी आत्मा को कहा जाता है लेकिन आत्मा को प्रदेशों से सभी प्रकार से भिन्न पदार्थों का संबंध, कर्ता-भोक्ता आदि जहाँ आत्मा को बताया है, वे सब आत्मा नहीं है तथा आत्मा के भी नहीं हैं, ऐसा ज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम असद्भूत उपचरित व्यवहारनय कहा गया है। इसीप्रकार यह शरीर जिसका आत्मप्रदेशों के साथ मात्र एक क्षेत्रावगाह संबंध है तथा द्रव्य कर्मों का भी आत्मा से संश्लेषरूप एक क्षेत्रावगाह संबंध है, वे भी सब आत्मा के नहीं हैं, ऐसा ज्ञान कराने वाले ज्ञान का नाम असद्भूत-अनुपचरित व्यवहारनय कहा गया है। इसीप्रकार आत्मा में होने वाले विकारी भाव एवं क्षायोपशमिक भावों का कर्ता-भोक्ता भी आत्मा को कहा जाता है लेकिन वे भी आत्मा नहीं हैं आत्मा उनसे भी भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान कराने वाले नय का नाम सद्भूतउपचरित व्यवहारनय कहा गया है तथा आत्मा में ही रहने वाले आत्मा के ही अनन्तगुणों अथवा केवलज्ञानादि पर्यायों के भेदों वाला आत्मा को कहना, लेकिन आत्मा में ऐसे भेद नहीं हैं, ऐसा ज्ञान कराने वाले ज्ञान को सद्भूतअनुचरित व्यवहारनय कहा गया है।

पंचाध्यायीकार तो इससे भी आगे बढ़कर ऐसा कहते हैं कि जो आत्मा के प्रदेशों से अत्यन्त भिन्न, ऐसे शरीर एवं शरीर से संबंधित अन्य सभी पदार्थ तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न प्रत्यक्ष दिखते हैं, अतः उनको तो भिन्न मानना ही चाहिए, उनके कर्ता-भोक्तापने का निषेध करने के लिये नय का प्रयोग मूर्खता है, अर्थात् नयाभास है। इसके अतिरिक्त आत्मा से थोड़ा भी संबंध रखने वाले तथा आत्मा को राग के उत्पादन में कारणभूत बनते हों, मात्र उन्हीं में व्यवहारनयों का प्रयोग कार्यकारी है। उपर्युक्त सभी व्यवहारनयों के प्रयोग के समय निश्चय का विषय, जो पर्याय मात्र से निरपेक्ष, त्रिकाली ज्ञायक भाव है वह तो साथ में रहना ही चाहिए, अन्यथा व्यवहार के विषयों की भिन्नता किससे करेगा।

अतः जिसने आत्मा को अभी समझा ही नहीं हो, उसको तो उपरोक्त नयों के प्रयोग के समय त्रिकाली ज्ञायक भाव जो परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है, वह तो ज्ञात ही नहीं है। उसको जब समझने की जिज्ञासा जाग्रत हुई है। ऐसे आत्मार्थी को उस शुद्ध आत्मा तक पहुँचाने के लिये, उपरोक्त व्यवहार नयों के प्रयोग के समय, आगे-आगे बढ़ाने की दृष्टि से, सबसे स्थूल व्यवहार नय के प्रयोग के समय उससे ऊपर के व्यवहारनय के विषय को भी, अपना प्रयोजन सिद्ध करने मात्र के लिये निश्चय कहते हुए उत्तरोत्तर आगे-आगे बढ़ाया जाता है। इसी प्रकार क्रमशः समझते हुए, निश्चयनय-व्यवहारनय के विषयों को मुख्य-गौण करते हुए शीघ्र ही अपने चरम ध्येय त्रिकाली ज्ञायक को ही आत्मा समझने की पात्रता प्राप्त कर लेता है।

इसप्रकार व्यवहारनय वस्तु को यथार्थ समझने के लिये उपकारी है और उत्तरोत्तर प्रकार से अपने-अपने निश्चय के विषयों का प्रतिपादन करते हुए अपना कार्य समाप्त करके स्वयं अभाव को प्राप्त होता जाता है। इस ही अपेक्षा निश्चय को व्यवहार का निषेधक भी कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मस्वभाव तो पूर्ण निर्विकारी ज्ञानानंद स्वभावी है। उसका आश्रय तो राग का उत्पादन कर ही नहीं सकता और ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से उसके ज्ञान में तो स्व और पर दोनों का अवभासन हर समय हो ही रहा है, लेकिन अज्ञानी को आत्मस्वभाव के अज्ञान के कारण एवं पर के साथ प्रीति होने से, स्व और पर दोनों एक साथ उपस्थित होते हुए भी, वह हर समय पर की ओर ही झुका हुआ रहा है अर्थात् परमुखापेक्षी बना रहने के कारण, स्व की ओर झुकता ही नहीं है। अतः उसको स्वआत्मतत्त्व दिखने में कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। यही कारण है कि अज्ञानी आत्मानुभव से वंचित रहता है।

इसके विपरीत ज्ञानी को अथवा ज्ञानी बनने के लिये आत्मार्थी को भी ऐसी श्रद्धा होती है कि जगत में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ कोई है तो वह मात्र मेरी आत्मा ही है। परमशुद्ध निश्चयनय का विषय कहो अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो, ऐसी एकमात्र मेरी आत्मा ही आश्रय करने योग्य है, यही एकमात्र शरणभूत है, इस ही के शरण से आत्मानुभूति प्रगट हो सकती है आदि-आद अनेक प्रकार से अपनी महिमा आने से रुचि का केन्द्रीयकरण एकमात्र अपना त्रिकाली ज्ञायक परमात्मा हो जाता है और परज्ञेयों के प्रति रुचि उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है। फलतः क्रमशः ऐसी स्थिति पर पहुँच जाता है कि अपने स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान में परज्ञेयों का ज्ञान होते हुए भी उनके जानने के प्रति भी रुचि क्षीण पड़ती जाती है और स्वज्ञेय की महिमा बढ़ती जाती है। सारे विश्व के ज्ञेयों को जानते हुए भी अपना अस्तित्व उनसे भिन्न, उनको जानते हुए भी नहीं जानते हुए के समान, उनसे अलिप्त प्रतिभासित होते हुए, मानों सबके ऊपर-पानी पर तैरते हुए तेल के समान, ऊपर ही ऊपर तैरता रहता है। सबसे अधिक अपना त्रिकाली ज्ञायक भाव, समस्त ज्ञेयों की उपेक्षापूर्वक जानते रहने वाला, अपने आप में विश्राम प्राप्त करने को परम चेष्टावान हो जाता है, उसको आत्मानुभूति प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३१ की टीका में कहा भी है कि —

"टीका :— (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादारूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है "अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही हैं कि भेद दिखाई नहीं देता ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो

निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलंबन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया, सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापार भाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती है ज्ञान को खंडखंडरूप बतलाती है ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्य शक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों को जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले संबंध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन अनुभव के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं, ऐसी भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति को स्वयमेव अनुभव में आने वाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया, सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को तीनों को जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नाम दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? विश्व के समस्त पदार्थों के ऊपर तिरता हुआ उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतः सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।"

पर्यायार्थिकनय एवं उसके विषयभूत समस्त ज्ञेयपदार्थ अनित्य-स्वभावी-उत्पाद-व्ययस्वभावी अपनी ही पर्याय है। पर्याय भी सत् का अंश होने से सत् तो अवश्य है, लेकिन एक समय मात्र का सत् है इसलिये अनित्य स्वभावी है। अनित्य स्वभावी एवं क्षण-क्षण में बदल जाने के स्वभाव वाली होने से, आश्रय करने योग्य नहीं है। उसको मेरा मानने से

उसके क्षण-क्षण के नाश में अपनी मृत्यु अर्थात् नाश जैसा अनुभव होने के कारण अत्यन्त अशांति एवं दुःख का कारण बनता है। अतः उसमें अपनापन एवं उपादेयता मानने योग्य नहीं है। प्रत्युत सदैव हेय मानते हुए प्रेम नहीं करने योग्य है। ऐसी श्रद्धा-सच्ची समझ उत्पन्न हो जाने से, पर्यायार्थिकनय एवं उसके विषयों के प्रति रुचि का अभाव होकर उपेक्षाबुद्धि-हेयबुद्धि प्रगट हो जाती है। ज्ञेयों में आसक्ति के कारण हमारी पर्याय आत्मस्वभाव से अत्यन्त विपरीत, राग द्वेष आदि विकारी रूप होकर परिणमन कर रही है; इसलिये किसी प्रकार भी किंचित मात्र भी प्रेम करने योग्य-अपनी मानने योग्य नहीं है। समयसार गाथा नं. ७२ एवं ७४ से इस ही का समर्थन प्राप्त होता है। उसका हिंदी अनुवाद निम्नप्रकार है, मूल टीका पठनीय है :—

"अर्थ :— आस्रवों की रागद्वेषादि भावों की अशुचिता एवं विपरीतता तथा वे दुःख के कारण हैं, ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है ॥ ७२ ॥

अर्थ :— यह आश्रव जीव के साथ निबद्ध है, अध्रुव है, अनित्य है तथा अशरण है, और वे दुःख रूप हैं, दुःख ही जिनका फल है ऐसे हैं। ॥ ७४ ॥

इसप्रकार अपनी पर्याय के यथार्थ स्वरूप एवं वर्तमान की भूल आदि की यथार्थ जानकारी प्राप्तकर, पर्याय के प्रति हेय बुद्धि प्रगट करनी चाहिये, तथा अपना स्वभाव ऐसे त्रिकाली ज्ञायक भाव की महिमा लाकर उसमें अत्यन्त उपादेय बुद्धि प्रगट करना चाहिये। इसके फलस्वरूप, पर एवं पर्याय के प्रति उपेक्षा बुद्धि जाग्रत होकर, आत्मा की अनुभूति प्रगट हो सकेगी। इस ही अपेक्षा से जिनवाणी में, निश्चयनय को भूतार्थ सत्यार्थ आदि कहा गया है एवं व्यवहार नय को अभूतार्थ-असत्यार्थ आदि अनेक नामों से संबोधन किया है। क्योंकि वे नय जिसको अपना विषय बनाते

हैं, वे विषय आत्मकल्याण के लिये सत्यार्थ हैं, अथवा भूतार्थ हैं, यह अपेक्षा ही मुख्य है।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिकनय के द्वारा अपने आत्मद्रव्य के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर, उसमें हेय-उपादेय बुद्धि द्वारा एकाग्र होने से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

निश्चयनय भूतार्थ एवं व्यवहार अभूतार्थ बताने का प्रयोजन

प्रश्न :— यह होता है कि निश्चयनय को तो भूतार्थ-सत्यार्थ आदि बताकर जिनवाणी में प्रशंसा की गई है, और व्यवहारनय को अभूतार्थ-असत्यार्थ आदि बताकर उसका तिरस्कार किया गया है, जबकि दोनों ही नय प्रमाणज्ञान के अंश हैं? इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर :— सर्वप्रथम भूतार्थ एवं अभूतार्थ की परिभाषा समझनी चाहिये। शास्त्र में कहा गया है —

"भूतम् अर्थं प्रद्योतयति इति भूतार्थः,
अभूतम् अर्थं प्रद्योतयति इति अभूतार्थः"

"भूत अर्थात् प्रयोजनभूत अर्थ को बतावे, वह भूतार्थ और अभूत अर्थात् अप्रयोजनभूत अर्थ को बतावे, वह अभूतार्थ।"

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि जिनवाणी के समस्त कथनों का उद्देश्य तो आत्मकल्याण के लिये ही होता है। वास्तव में नय तो ज्ञान की पर्यायें हैं, उनमें तो किसी प्रकार का भूत अथवा अभूतपना होता ही नहीं है। लेकिन वे जिस विषय को विषय बनावें, वह विषय मेरे आत्मकल्याण में सार्थक हो तो, वह मेरे लिये प्रयोजनभूत है। इसलिये उसको बताने वाले नय को भी भूतार्थ कहकर, रुचि को उस ओर आकर्षित कराया जाता है और मेरे आत्मकल्याण के लिये अप्रयोजनभूत एवं अन्य विषयों को बताने वाले नय को अभूतार्थ बताकर, रुचि को उस ओर से

हटाया जाता है। इसी विषय को परमभावप्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ ४३-४४ पर निम्नप्रकार स्पष्ट किया है —

"अब रही निश्चय को भूतार्थ-सत्यार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहने वाली बात। सो इसका आशय यह नहीं है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है, उसका विषय है ही नहीं। उसके विषयभूत भेद और संयोग का भी अस्तित्व है, पर भेद व संयोग के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता इस अपेक्षा उसे अभूतार्थ कहा है।

निश्चयनय का विषय अभेद-अखण्ड आत्मा है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि उसे भूतार्थ कहा है। समयसार में कहा है :—

"भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ ११॥"

"जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टी है।"

इसके संबंध में पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन रत्नाकर भाग-१ हिन्दी पृष्ठ १४८ के विचार भी द्रष्टव्य हैं :—

"जिनवाणी स्याद्वादरूप है, अपेक्षा से कथन करने वाली है; अतः जहाँ जो अपेक्षा हो वहाँ वही समझना चाहिए। प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहार को गौण करके असत्यार्थ कहा है। त्रिकाली, अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए त्रिकाली द्रव्य को अभेद कहकर भूतार्थ कहा है और पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। आत्मा अभेद, त्रिकाली, ध्रुव है, उसकी दृष्टि करने पर भेद दिखाई नहीं देता और भेददृष्टि में निर्विकल्पता नहीं होती, इसलिये प्रयोजनवश भेद को गौण करके असत्यार्थ कहा है। अनन्तकाल

में जन्म-मरण का अन्त करने वाला बीजरूप सम्यग्दर्शन जीव को हुआ नहीं है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये, पर्याय तथा भेद को गौण करके व्यवहार कहकर उसे असत्यार्थ कहा है।"

"यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते-इससे उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। किन्तु ऐसा नहीं समझना कि भेदरूप कोई वस्तु नहीं है, द्रव्य में गुण है ही नहीं, पर्याय है ही नहीं, भेद है ही नहीं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब निर्मल हैं। दृष्टि के विषय में गुणों का भेद नहीं है, किन्तु अन्दर वस्तु में तो अनन्त गुण हैं।"

इसीप्रकार इस विषय को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करने वाली समयसार की गाथा १४ की टीका गंभीरतापूर्वक समझने योग्य है। वह टीका अविकलरूप से प्रस्तुत है :—

"टीका :— निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त - ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है, इसप्रकार आत्मा एक प्रकाशमान है। "शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं है। यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसी आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है — बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिये यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं- जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होने रूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जलसे किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। इसीप्रकार अनादि काल से बंधे हुए आत्मा का, पुद्गल कर्मों से बंधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता

भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित् मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है। जैसे मिट्टी का, ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित सर्वपर्याय भेदों से किंचित् मात्र भी भेदरूप न होने वाले ऐसे एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। इसी प्रकार आत्मा का, नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर पर्यायों के अन्य-अन्य रूप से अन्यत्व भूतार्थ है- सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित सर्व पर्यायभेदों से किंचित् मात्र भेदरूप न होने वाले एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

जैसे समुद्र का, वृद्धिहानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता अनिश्चितता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है - असत्यार्थ है। इसीप्रकार आत्मा का, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदों के अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर निश्चय आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।

जैसे सोने का, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे सुवर्ण स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। इसीप्रकार आत्मा का, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्वविशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ-असत्यार्थ है।

जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप तप्ततारूप-अवस्था से अनुभव करने पर जल का उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है- सत्यार्थ है, तथापि एकांत शीतलता रूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर उष्णता के साथ संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है। इसीप्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है। इसीप्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है-सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकांत बोधबीज रूप स्वभाव है उसके चैतन्यभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है-असत्यार्थ है।"

इसप्रकार उपर्युक्त सभी आगम प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे प्रयोजन सिद्धि में साधक होने की अपेक्षा ही निश्चयनय को भूतार्थ सत्यार्थ कहा है एवं प्रयोजन सिद्धि में साधक नहीं होने के कारण ही व्यवहारनय एवं उसके विषयभूत पदार्थों को उपेक्षित करने योग्य मानकर अभूतार्थ एवं असत्यार्थ कहा है। व्यवहारनय के विषय को असत् बताना इसका अभिप्राय नहीं है। व्यवहारनय के विषयों की सत्ता होते हुए भी एवं मेरे ज्ञान की जानकारी में ज्ञात होते हुए भी, वे मेरे लिये प्रयोजनभूत नहीं होने से अभूतार्थ कहे गये हैं।

व्यवहारनय, अभूतार्थ ही है तो उसका उपदेश क्यों ?

सहज ही प्रश्न होता है कि व्यवहारनय जब अभूतार्थ-अप्रयोजनभूत है तो मोक्षमार्ग में उसका उपदेश ही क्यों किया गया है ?

उत्तर :— जिनवाणी में व्यवहारनय को स्थान तो इसलिये प्राप्त हुआ है कि वह किन्ही-किन्हीं को और कभी-कभी जाना हुआ प्रयोजनवान

होता है और अभूतार्थ इसलिये कहा गया है कि उसके आश्रय से मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। ऐसा ही समयसार की गाथा १२ में कहा है —

"अर्थ :— जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् हो गये, उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।"

इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५१ पर कहा है :—

"फिर प्रश्न है कि यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिये दिया? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

समाधान :— ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है :—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभांस विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ ८॥

अर्थ :— जिसप्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि ***"व्यवहारनयों ना नुसर्तव्य"***

इसका अर्थ है :— इस निश्चय को अंगीकार करने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधान :— जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही हैं"— ऐसा जानना; तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान हैं, उसे "ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि को अपेक्षा उपचार किया है - ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर "ऐसे भी है, ऐसे भी हैं- इसप्रकार भ्रम रूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।"

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ के श्लोक ५-६ में भी उक्त विषय की पुष्टि की है, उसका गाथार्थ निम्नप्रकार है :—

अर्थ :— इस ग्रंथ में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्राय: भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान के विरुद्ध जो अभिप्राय है, वह समस्त ही संसारस्वरूप है।

अर्थ :— ग्रन्थकर्ता आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये व्यवहानय का उपदेश करते हैं और जो जीव केवल व्यवहारनय को ही जानता है उसको - उस मिथ्यादृष्टि जीव के लिये उपदेश नहीं है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपदेश की प्रक्रिया में तो व्यवहारनय प्रधान रहता है लेकिन अपना आत्मानुभवरूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिए तो निश्चयनय ही प्रधान है। अपनी आंतरिक व्यवस्था में भी, व्यवहारनय तो अभेद स्वरूप आत्मा को, भेद करके एवं अन्य द्वारा उपचरित भावों के माध्यम से, अभेद अनुपचरित आत्मवस्तु को ही समझाता है। निश्चयनय उस ही आत्मवस्तु के अखंड-अभेद स्वरूप का अनुभव

कराने के लिये उन कथनों संबंधी विकल्पों को उपेक्षित एवं गौण करके, अपने उपयोग को आत्म सन्मुख करके अनुभव प्राप्त कराता है। यही उपर्युक्त कथन समझने की उपयोगिता है।

अनेकान्त व स्याद्वाद की मोक्षमार्ग में उपयोगिता

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त शब्द का अर्थ होता है-अनेक हैं अन्त जिसके। मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत तो मात्र एक मेरा आत्मा ही है। अत: मेरी आत्मोपलब्धि के लिये मुझे अनेकान्त की क्या उपयोगिता है, यह समझना है।

मेरी आत्मा स्वयं वस्तु है। वस्तु उस ही का नाम है, जिसमें अनन्त शक्तियाँ बसती हों। अत: आत्मा में भी अनंतगुण-शक्तियाँ-धर्म बसे हुए हैं। इसलिये आचार्य श्री ने **"गुणपर्ययवद् द्रव्यं"** सूत्र के द्वारा वस्तु का स्वरूप बतलाया है। इन सबसे सिद्ध होता है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही अनेकान्तात्मक है। उसी आधार पर जिनवाणी में बताया गया है कि हर एक वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक ही है। अत: अनेकान्त तो वस्तु का स्वरूप है, इस संबंध में परमभाव प्रकाशक नयचक्र के निम्न स्पष्टीकरण पठनीय हैं :—

"वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त हैं और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य- द्योतक संबंध है।"

समयसार की आत्मख्याति टीका परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र इस संबंध में लिखते हैं :—

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्वाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि

अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएं अनेकान्तात्मक हैं। जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है-इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है।

"कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में "भी" का प्रयोग है, "ही" का नहीं। उन्हें "भी" में समन्वय की सुगंध और "ही" में हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता "भी" के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता "ही" के प्रयोग की नहीं। "भी" और "ही" का समान महत्व है। (पृष्ठ-३५९)

"भी" यह बताती है कि हम जो कह रहे हैं, वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है, किन्तु "ही" यह बताती है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बताई गई है, वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है। अतः "ही" और "भी" एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। "ही" अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और "भी" अन्य पक्षों के बारे में मौन रहकर भी उनकी संभावना की नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।" (पृष्ठ-३६०)

"इसीप्रकार "ही" का प्रयोग "आग्रही" का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर "ही" का प्रयोग किया है। "ही" के प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक में इसप्रकार किया है :—

'वाक्येऽवधारणं तावदीनिष्टार्थ निवृत्तये।
कर्तव्यमन्यथानुतत समत्वात्तसय कुत्रीचित्॥

वाक्यों में "ही" का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं यह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है।"

"प्रमाण वाक्य में मात्र सत् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नयवाक्य में स्यात् पद के साथ - साथ एवं "ही" का प्रयोग भी आवश्यक है। "ही" सम्यक् एकान्त की सूचक है और "भी" सम्यक् अनेकान्त की।" (पृष्ठ-३६१)

"अतः वाणी में स्यात् पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात् पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं, इसके बिना अभावका भ्रम उत्पन्न हो सकता है।" (पृष्ठ-३५९)

उपरोक्त प्रकार से सभी दृष्टिकोणों से अनेकान्त एवं स्याद्वाद की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। जैनदर्शन तो वस्तु दर्शन है-यह कोई कल्पना नहीं है। वस्तु स्वयं जैसी है, वैसी ही उसको नहीं मानकर अन्यथारूप से मान लेने पर भी, वस्तु स्वरूप तो नहीं बदल जायेगा ? उस वस्तु के स्वरूप का विवेचन करने में स्याद्वाद की शरण लेना तो अनिवार्य हो जाता है। अतः जैनदर्शन का हर एक कथन स्याद्वादमय ही होता है। प्रत्येक स्थान पर यह बताना संभव नहीं हो सकता, इस संबंध में कषाय पाहुड़ का निम्न कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है :—

"स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखने वाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव स्यात् श्ब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। कहा भी है— यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञान का अभिप्राय रखने से स्यात् शब्द का अप्रयोग देखा जाता है।"

समझने एवं प्रयोग में अनेकान्त की अनिवार्यता

वस्तु स्वरूप ही ऐसा है कि, एक ही वस्तु में नित्यता एवं अनित्यता दोनों विरुद्ध भाव एक साथ ही एक समय में विद्यमान हैं और ऐसे विद्यमान हैं कि वे दोनों ही उस एक ही वस्तु के अभिन्न अवयव हैं, किसी एक के बिना, वह वस्तु ही नहीं रहेगी, ऐसी एक विचक्षण वस्तु को समझना अत्यन्त ही कठिन कार्य है, ऐसी वस्तु को समझने का अनेकान्त ही एक मात्र उपाय है अन्य कोई उपाय नहीं है।

हमको तो प्रयोजनभूत एक मात्र मेरा आत्मा ही है, अतः मुझे तो उस ही को समझना है। अतः जब आत्मवस्तु को समझने की चेष्टा करता हूँ तो, आत्मवस्तु एक ही समय स्थाई नित्य है और उसी समय पलटती हुई उत्पाद-व्ययात्मक अनित्य भी है। इसीप्रकार उसी समय द्रव्य की अपेक्षा एक ही हैं लेकिन द्रव्य में ही उसी समय अनन्त गुण तथा धर्म भी, एक साथ ही विद्यमान हैं। उसही आत्मा को जब पहले समय की पर्याय से देखें तो दूसरे समय वह आत्मा वैसा दिखता ही नहीं है, और उसी समय द्रव्य से आत्मा को देखें तो वह; वही का वही है, अन्य रूप दिखता ही नहीं है। उपरोक्त सभी परिस्थिति वाला मेरा यह आत्मा एक हर समय है। इसके अतिरिक्त, आत्मा ज्ञान स्वरूपी होने से, स्वयं ज्ञाता होने पर भी, उस ही समय उसके ज्ञान में ज्ञेय भी ज्ञात होते हैं, अतः वह आत्मा ज्ञेयों जैसा भी अनेक रूपवाला उसी समय दिखता है। इस तरह इस आत्मा के असली स्वरूप को पहिचानना असम्भव जैसा ही लगता है। क्योंकि इतनी अनन्तताओं में फँसा हुआ आत्मा कैसे पहिचाना जावे?

उपरोक्त असम्भव जैसी लगने वाली परिस्थितियों में से भी अपने आत्मस्वरूप को पहिचान कर, निकाल लेने का उपाय आचार्य भगवतों ने "अनेकान्त" का प्रयोग ही बताया है। समयसार के परिशिष्ट के प्रारम्भ

में ही पृष्ठ ६४८-६४९ के द्वारा वस्तु व्यवस्था समझाने का उपाय अनेकांत कहा है। वह इसप्रकार है :—

"उसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) अंतरंग में चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते अनन्त, ज्ञेयत्व को प्राप्त, स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा अतत्पना है अर्थात् ज्ञान उस-रूप नहीं हैं, सहभूत साथ ही प्रवर्तमान अनन्त और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशों के समुदायरूप अविभाग द्रव्य के द्वारा एकत्व है, और अविभाग एक द्रव्य में व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप चैतन्य के अनन्त अंशों रूप पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है, अपने- द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा अर्थात ऐसे स्वभाववाली होने से सत्तत्त्व है, और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्ति रूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा असत्तत्त्व है, अनादिनिधन अविभाग एक वृत्ति रूप से परिणतपने के द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समय की पर्यायवाले अनेक वृत्ति-अंशों-रूप से परिणतपने के द्वारा अनित्यतत्त्व है। इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो-दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिए अनेकांत स्वयंमेव प्रकाशित होता है।"

प्रश्न :— यदि आत्मवस्तु को, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयंमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अर्हन्त भगवान उसे साधन के रूप में अनेकान्त का स्याद्वाद का उपदेश क्यों देते हैं?

उत्तर :— अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश देते हैं ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में अनेकान्त स्याद्वाद के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि नहीं हो सकती।"

आचार्यश्री का अन्तिम वाक्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि "वास्तव में अनेकान्त-स्याद्वाद के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि समझने में अनेकान्त-स्याद्वाद की शरण लिये बिना वस्तु समझ में नहीं आ सकती, और प्रायोग पद्धति में जब दृष्टि, मात्र एक अभेद-नित्य वस्तु को विषय नहीं बनावेगी, तो किसमें एकाग्र होगी और तन्मय होगी। अतः दोनों पद्धतियों में भी अनेकान्त व स्याद्वाद के प्रयोग की अत्यन्त अनिवार्यता है।

समझने में अनेकान्त की उपयोगिता किस प्रकार ?

विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तु को समझने के लिये, समझने का प्रयास करने वाला व्यक्ति जब तक दोनों स्वभावों में से क्रमशः अपनी दृष्टि में एक स्वभाव को मुख्य बनाकर दूसरे स्वभाव को "ही" के प्रयोग द्वारा गौण नहीं करेगा, तब तक समग्र वस्तु को कैसे समझ सकेगा? क्रमशः विरुद्ध स्वभावों को समझने के समय तो अनेकान्त का प्रयोग ही कार्यकारी सिद्ध होगा। क्योंकि जिस स्वभाव को उसकी दृष्टि मुख्य कर रही है और दूसरे स्वभाव को गौण किया है, उसकी उस स्वभाव में तो, सर्वथा ही "नास्ति" है, इसीप्रकार गौण किये हुए स्वभाव को मुख्य करके समझा जावेगा तब पूर्वानुसार ही उस भाव में अन्य भाव की नास्ति है? ऐसी निःशंक श्रद्धा करे बिना समग्र वस्तु का स्वरूप किसी भी प्रकार से स्पष्ट समझ में नहीं आ सकता।

उस ही अभेद वस्तु में एक साथ ही विद्यमान अनन्त धर्मों सहित वस्तु को जब समझना हो तो इसीप्रकार अनेकान्त के "भी" का प्रयोग कार्यकारी होगा, क्योंकि सभी धर्म अर्थात् गुण आत्मा में सदैव एक साथ ही विद्यमान रहते हैं, क्योंकि अनन्त गुणों की समुदाय ही, वह वस्तु है। अतः वे सब आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं, ऐसी दृष्टि की निःशंक

श्रद्धा कराने के लिए "भी" का प्रयोग करके समग्र वस्तु को समझ लिया जा सकता है।

इसप्रकार अनेकान्त के सम्यक् प्रयोग द्वारा ही आत्मवस्तु समझी जा सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। इस संबंध में प्रवचनसार की गाथा ११४ की टीका का निम्न अंश पठनीय है।

"वास्तव में सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखने वालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को देखने वाली दो आँखें हैं — (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना पर्यायस्वरूप विशेषों में रहने वाले एक जीवसामान्य को देखने वाले और विशेषों को न देखने वाले जीवों को "वह सब जीव द्रव्य है" ऐसा भासित होता है और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तब जीव-द्रव्य में रहने वाले नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना-पर्यायस्वरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों को वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है, कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति। इसप्रकार समग्र वस्तु का सामान्य ज्ञान होने पर भी, समग्र वस्तु को स्वभाव के द्वारा समझने में एक मात्र अनेकान्त का प्रयोग ही कार्यकारी होता है।

आत्मोपलब्धि में उपयोगिता किस प्रकार ?

आत्मोपलब्धि के समय निर्विकल्पपना अवश्यंभावी है उस समय ज्ञान में ज्ञप्ति परिवर्तन रुक जाता है, फलतः ज्ञप्ति परिवर्तन के कारण होने

वाला रागांश भी रुक जाता है। उपरोक्त दशा तब ही सम्भव हो सकती है कि जब ज्ञान का उपयोगात्मक विषय, मात्र एक ही हो, द्वैत का अभाव हो, तथा उसका विषय ध्रुव स्थाई हो, परिवर्तनशील नहीं हो, क्योंकि अध्रुव-परिवर्तनशीलता में परिणति का एकाग्र होना असम्भव है।

ज्ञान में ज्ञेयों का होना तो स्वाभाविक क्रिया है और ज्ञेय तो अनेक होने से ज्ञान के विषयों में अनेकताओं का अभाव भी किया जाना संभव नहीं है। ऐसी दशा में एक मात्र अनेकान्त का प्रयोग ही एकाग्रता के लिये सर्वोत्कृष्ट औषधि है - परम साधन है।

दृष्टि अर्थात् श्रद्धा तो इन सब अनेकताओं और विविधताओं के बीच में से भी, अपने सिद्ध समान ध्रुव-अकृत और अनन्त गुणों के स्वामी ऐसे स्थाई भाव को, उन ज्ञेयों की अनेकताओं में भी खोजने के यत्न में ज्ञान के द्वारा संलग्न रहती है। अत: अनेकान्त के अवयव ऐसे "ही" और "भी" के प्रयोगपूर्वक उन सब अनेकताओं में से भी मुख्य-गौण के प्रयोग अर्थात् को अर्थात् उपादेय बुद्धि एवं गौण को उपेक्षा अर्थात् हेय बुद्धि पूर्वक अपने स्वामी ऐसे कारण परमात्मा को ज्ञान के सहयोग से ढूँढ लेती है और श्रद्धा उसी में "अंहपना" स्थापन कर लेती है। यह दशा ही आत्मानुभूति की दशा है और इस ही दशा के प्राप्त करने को, सम्यक् अनेकान्तपूर्वक, सम्यक्एकान्त का जन्म होना कहा गया है। इस दशा में ही, पूर्व भूमिका में होने वाले अनेकान्त के अवयव अस्तिकास्ति एवं मुख्य गौण संबंधी विकल्प एवं नय सम्बन्धी विकल्पों का अभाव होकर, सब पक्षों का अतिक्रान्त कर अत्यन्त-निर्विकल्प-अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोक्ता बन जाता है एवं अपना जीवन सार्थक कर लेता है।

इसप्रकार आत्मोपलब्धि में भी एक मात्र अनेकान्त का सम्यक् प्रयोग ही कार्यकारी है। इसप्रकार अनेकान्त ही जैनधर्म का सारभूत तत्व है। इसकी जितनी भी महिमा की जावे कम है।

स्याद्वाद की उपयोगिता

स्याद्वाद तो कथन शैली का नाम है। क्योंकि जो चीज मात्र अनुभव में आई है अर्थात् जिस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आत्मा मात्र ने चखा है - पान किया है, उस आनन्द का स्वाद तो वाणी में आ नहीं सकता। भेद-प्रभेद करके कथन कथन करना अथवा समझाना हो तो अंशत: ही किया जा सकता है। इस कथन के ही भेद प्रभेद रूप सप्तभंग पड़ जाते है। इस ही को सप्तभंगी वाणी भी कहा जाता है। ऐसी दशा में उसकी वाणी तथा ज्ञान में स्यात् अर्थात् अन्य अपेक्षा भी गौण है, ऐसा सहज स्वाभाविक बने रहना अनिवार्य है। इसही लिये ज्ञानी पुरुष का हर एक कथन स्याद्वादमय ही होता है और यही कारण है कि जैन दर्शन का हरएक कथन स्याद्वादमय ही कहा गया है। इन्हीं सब कारणों से स्याद्वाद को जैन धर्म का ध्वज भी कहा जाता है।

ज्ञान-ज्ञेय एवं भेद-विज्ञान

समझने की पद्धति का उद्देश्य, ध्येय और तात्पर्य आदि

समझने का उद्देश्य क्या ?

जिसप्रकार स्वर्ण की खान धरती में और खान की मिट्टी में स्वर्ण छिपा हुआ है, कहीं भी दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मा, छह द्रव्यों में और जीवद्रव्य में विद्यमान रागादिविकारी भावों के बीच छुपा हुआ है, वह आत्मस्वभाव भी, दिखाई नहीं देता। जिसप्रकार स्वर्ण का शोधक विशेषज्ञ, उसकी अन्वेषण रिपोर्ट पर विश्वास कर, उस धरती में स्वर्ण की खान एवं खान की मिट्टी में स्वर्ण नहीं दिखने पर भी विद्यमान है ऐसा मात्र उस रिपोर्ट के आधार पर विश्वास कर, उस खान व मिट्टी को, स्वर्ण की खान एवं स्वर्ण की मिट्टी मान लेता है, उसमें निश्चित रूप से स्वर्ण प्राप्त होगा, ऐसा विश्वास नि:शंकतापूर्वक कर लेता है। उसीप्रकार

आत्मार्थी भी छह द्रव्यों एवं जीव के रागादिभावों के बीच, आत्मा, नहीं दिखने पर भी, सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा अन्वेषण कर जिनवाणी रूपी रिपोर्ट पर विश्वास करके, उन छह द्रव्यों एवं अशुद्ध विकारी भावों के बीच ही छुपी हुई आत्मा के अस्तित्व का निःशंकतापूर्वक विश्वास कर लेता है।

मात्र यह विश्वास ही स्वर्ण प्राप्त कराने का मुख्य आधार है। उस मिट्टी में निश्चित रूप से स्वर्ण है ही, ऐसी जब तक निःशंक दृढ श्रद्धा नहीं होगी तब तक वह स्वर्ण प्राप्त नहीं कर सकेगा। उसीप्रकार इन रागादिभावों सहित दिखने वाले मेरे आत्मा में ही, यथार्थ शुद्ध आत्मा विद्यमान है, ऐसी निःशंक दृढ़ श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न नहीं होगा, तबतक उसको आत्मलाभ करने का पुरुषार्थ ही जाग्रत नहीं हो सकेगा।

इसलिये समझने का मुख्य उद्देश्य तो वर्तमान अपने आत्मा में ही आत्मा के अस्तित्व का विश्वास होना चाहिए, उसके बिना आत्मलाभ असम्भव है। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न करने का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण लाभ यह होगा, कि अपने आत्मस्वभाव को खोजने के लिये उसकी बुद्धि सब ओर से सिमटकर, मात्र एक अपने आत्मद्रव्य में ही सीमित हो जावेगी। अपने यथार्थ स्वभाव को खोजने के लिए जो बुद्धि आत्मा से इतर भिन्न पदार्थों जैसे स्त्री, पुत्र, मकान जायदाद आदि एवं अपने शरीरादि समस्त विश्व में ढूँढता फिरता था, उसकी वह सारी भटकन समाप्त होकर, मात्र एक अपने आत्मद्रव्य में ही सीमित हो जाती है। अतः खोजने का क्षेत्र जो असीमित था, वह सब ओर से अत्यन्त सिमटकर, मात्र एक अपने आत्मद्रव्य में ही सीमित हो जाता है। जिसप्रकार स्वर्ण को खोजने के शोधार्थी का, पूरे भारत भर के सभी क्षेत्रों से स्वर्ण खोजने का प्रयास समाप्त होकर, मात्र उस एक ही खान की मिट्टी तक सीमित हो जाता है उसीप्रकार आत्मखोजी को भी अनन्त भटकन समाप्त होकर, मात्र एक स्वआत्मद्रव्य में ही खोजने का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

भटकन समाप्त करने का श्रेय मात्र जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा

उपरोक्त महान उपलब्धि का श्रेय, एकमात्र मिट्टी के अनुसंधानकर्ता उस विशेषज्ञ के निर्णय को है, जिसने भारतभर की अन्य सभी मिट्टियों के अनुसंधान करने के निरर्थक प्रयासों को समाप्त कर, मात्र उस अकेली खान की मिट्टी में ही स्वर्ण होने का निर्णय दे दिया। ठीक उसीप्रकार सभी विश्व अर्थात् छह द्रव्यों के अनंतानंत पदार्थों में दिव्यकर्मों और अपने रागादि भावों में, आत्मार्थी की आत्मस्वभाव को खोजने की भटकन को समाप्त कर एकमात्र अपने ही आत्मद्रव्य में सीमित कर देने का कार्य कर दिया। इस महान् उपलब्धि का श्रेय, मात्र एक सर्वज्ञोपज्ञ द्रव्यश्रुत - जिनवाणी को ही है। तथा उसके मर्म समझने वाले यथार्थ आत्मानुभवी सत्पुरुषों को है, जिन्होंने जीवनभर अपने ज्ञान उपयोग को जिनवाणी के सतत् अध्ययन एवं अनुसंधान में लगाकर, आत्मोपलब्धि प्राप्तकर अपने अनुभव के आधार पर यह निर्णयकर घोषित कर दिया कि "तेरा आत्म स्वभाव तो तेरे पास ही है, तेरा आत्मद्रव्य ही है।" तेरा आत्मा तेरे आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य जीवद्रव्यों में तथा तेरे ही अंदर उत्पन्न होने वाले विकारी भावों में तथा इन सबके अतिरिक्त अन्य अचेतन द्रव्यों में, जैसे तेरे से अन्य स्त्री, पुत्र, माता-पिता, परिजन आदि तथा मकान रुपया पैसा आदि तथा शरीरादि द्रव्यकर्मादि सभी अन्य द्रव्यों में हो ही नहीं सकता, इसलिए मुझे अपने आत्मस्वभाव को खोजने के लिए उनकी ओर झांकने की भी आवश्यकता नहीं है। "पं. दीपचंद जी शाह ने ज्ञानदर्पण के कवित्त ९ में कहा भी है कि :—

"चेतन को अंक एक सदा निकलंक महा,
करम कलंक जामैं कोऊँ नहीं पाइए।
निराकार रूप जो अनूप उपयोग जाके,
ज्ञेय लखै ज्ञेयाकार न्यारौ हूँ बताइये॥

वीरज अनंत सदा सुख कौ समुद्र आप,
परम अनंततामैं और गुण गाइए।
ऐसो भगवान ज्ञानवान लखै घट ही मैं,
ऐसा भाव भाय "दीप" अमर कहाइये"॥ ९ ॥

ऐसे दृढ़तम निर्णय की घोषणा ने ही आत्मार्थी को ऐसी दृढ़तम श्रद्धा उत्पन्न कर दी कि मुझे मेरी आत्मा के यथार्थ स्वभाव को खोजने के लिये कहीं अन्य भटकना ही नहीं है, मात्र मेरे आत्मद्रव्य में ही अनुसंधान करनी है।

नाटक समयसार बंध अधिकार के अंत में भी कहा है कि :—

"मेरो धनी नहिं दूर दिसांतर,
मोही में है मोहि सूझत नीकै।"॥ ४८ ॥

समयसार की गाथा २०, २१ व २२ में भी कहा है कि :—

"जो पुरुष अपने से अन्य जो पर द्रव्य-सचित्त स्त्री पुत्रादिक, अचित्त धनयान्यादिक अथवा मिश्र ग्राम नगरादिक हैं -उन्हें यह समझता है कि मैं यह हूँ, ये द्रव्य मुझ स्वरूप हैं, मैं इसका हूँ, यह मेरा है, यह मेरा पहले था, इसका मैं भी पहले था, यह मेरा भविष्य में होगा, मैं भी इसका भविष्य मं होऊँगा-ऐसा झूँठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ है, मोही है, अज्ञानी है, और जो पुरुष परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ, ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ नहीं, ज्ञानी है"

इसप्रकार जिनवाणी के मूल स्त्रोत अरहंत भगवान, ऐसे देव एवं उनकी वाणी ऐसी द्रव्यश्रुत, एवं उस वाणी में अवगाहन कर सच्चे अनुसंधानकर्ता एवं हमको मोक्षमार्ग के प्रदाता सच्चे गुरू, उन पर दृढ़तम अटूट श्रद्धा रखकर, उनके कथन पर विश्वास कर, अपने आत्मस्वभाव की खोज करता है, वह अवश्य आत्मलाभ प्राप्त करेगा। इसप्रकार

जिनवाणी द्वारा बताये हुए स्व-पर-भेद विज्ञान के आधारभूत यथार्थ मार्ग को दृढ़तम श्रद्धा के साथ स्वीकार कर, आत्मानुसंधान करना ही धर्म लाभ करने के लिए, नींव के पहिले पत्थर के समान है।

आत्मलाभ का मूल आधार 'भेद विज्ञान'

अपने आत्मस्वभाव/आत्मस्वरूप को खोजने के लिये मेरा क्षेत्र तो सीमित हो गया। आत्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य कहीं भी मेरा आत्मा नहीं मिल सकेगा, ऐसी श्रद्धा तो हो गई लेकिन अपने आत्मद्रव्य में भी जब आत्मा को खोजने का प्रयत्न करता हूँ तो वहाँ भी अशुद्ध/विकारी भावों वाला ही आत्मा अनुभव में आता है, अन्य कोई प्रकार हो सकता है, ऐसा लगता ही नहीं है। अतः इसमें आत्मा कैसे मिलेगा ? यह एक विकट समस्या है। अनेक प्रकार की कोशिश करने पर भी, अन्य कोई प्रकार का आत्मा होने का आभास ही नहीं मिलता।

इस समस्या का समाधान भी जिनवाणी में उपलब्ध है। आचार्य कहते हैं "तेरा आत्मस्वभाव अर्थात् आत्मतत्व भी, तेरे ही आत्मद्रव्य के सात तत्वों - नवतत्वों के बीच में ही छुप रहा है, अन्य कहीं नहीं है, उनमें ही अनुसंधान करने से तुझे प्राप्त होगा।" भगवान कुन्द कुन्दाचार्य ने पूरे समयसार ग्रंथ में, इस अनुसंधान करने की प्रक्रिया का ही विस्तार से वर्णन किया है। आत्मलाभ अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये इस ग्रंथ के कथनों को रुचिपूर्वक मंथन करना ही एक मात्र उपाय है। यही कारण है कि इस ग्रंथराज की अपार महिमा गाई जाती है एवं कल्याण के लिये सर्वोत्कृष्ट मार्गदृष्टा होने से आचार्यकुन्दकुन्द देव का ही मंगलाचरण में गणधरदेव के पश्चात् नाम स्मरण किया जाता है। यथा :—

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमोगणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मंगलम्॥

इस ग्रंथराज के प्रारम्भ में ही आचार्यश्री ने, अपनी ही पर्यायों के स्वागों अर्थात् विकारी भावों के बीच में छुपे हुए उस यथार्थ आत्मतृत्त्व को दिखाने की इस प्रकार की गाथा नं. ५ में प्रतिज्ञा की है —

"उस एकत्वविभक्त् अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव में एकत्व और अशुद्ध भावों से विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ, यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण - स्वीकार करना, और यदि कहीं चूंक जाऊँ तो छल नहीं ग्रहण करना ॥ ५ ॥"

उक्त ग्रंथराज में ही आचार्य श्री ने अपने ही पर्यायों में उत्पन्न हुए अशुद्ध भावों के बीच में छुपा हुआ जो अपना वास्तविक आत्मतत्व है, उसको खोज निकालने का उपाय मात्र भेद विज्ञान ही कहा है। भेद विज्ञान की महिमा बताने वाले कलश नं. १३०-१३१ इसप्रकार हैं :—

"भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्परा च्चुत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते॥ १३०॥"

अर्थ :— यह भेद विज्ञान अविच्छिन्न - धारा से जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से तब तक भाना चाहिऐ जब तक ज्ञान पर भावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) स्थिर हो जावे ॥ १३० ॥

कलश १३१ इसप्रकार है :—

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः - सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥"

अर्थ :— जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान सेसिद्ध हुए हैं, और जो कोई बंधे हैं, वे उसी के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बंधे हैं ॥ १३१ ॥

उपरोक्त प्रकार से अपने ही अशुद्धभावों के बीच छुपे हुए अपने वास्तविक आत्मतत्व को खोजने का उपाय एकमात्र भेदविज्ञान ही है।

अतः इस भेदविज्ञान की वास्तविक पद्धति को समझना ही वास्तव में आत्मोपलब्धि का एकमात्र वास्तविक उपाय है।

भेदविज्ञान

भेदविज्ञान शब्द ही यह स्पष्ट करता है कि "एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ मिश्रित हों, उनमें से प्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं ? उसे उपादेयरूप पहिचानना, अन्य बचे हुए सभी पदार्थों को हेय रूप पहिचानना।" जैसे नींबू, मौसमी, आदि में, उसमें भरे हुए रस को प्रयोजनभूत एवं उपादेय तथा छिलके आदि सभी को अप्रयोजनभूत एवं हेयरूप पहिचानना। इसीप्रकार गेहूँ आदि धान्यादि पदार्थों में एकमात्र गेहूं को उपादेयरूप प्रयोजनभूत एवं अन्य सभी मिलावटी पदार्थों को हेयरूप अप्रयोजनभूत जानकर छटाई करना, जैसे स्वर्ण मिश्रित खान की मिट्टी में , मात्र १०० टंच के शुद्ध स्वर्ण को उपादेयरूप प्रयोजनभूत समझना एवं अन्य सभी मिश्रित पदार्थों को हेयरूप अप्रयोजनभूत पहिचानना। इस प्रकार पहिचान करने का नाम ही भेदविज्ञान है।

इस प्रकरण में हमें भेदविज्ञान करने का विषय तो एक मात्र हमारा निज आत्मद्रव्य ही है। उस ही का अनुसंधान करके उसमें से शुद्ध आत्मतत्त्व को खोजना है - पहचानकर अनुभव करना है। जिसप्रकार स्वर्ण की खान से निकली हुई मिट्टी में, कहीं भी स्वर्ण नहीं दिख रहा है। फिर भी अनुसंधानकर्ता विशेषज्ञ, उस मिट्टी में असली १०० टंच के स्वर्ण को, अपनी अनुसंधान प्रक्रिया के द्वारा शुद्ध करके निकालकर प्रत्यक्ष कर लेता है। उसके आधार पर ही वह यह निर्णय कर लेता है कि इस ५ किलो मिट्टी में शुद्ध स्वर्ण, मात्र १०० ग्राम है, बाकी सब अन्य अप्रयोजनभूत मिश्रण है। विशेषज्ञ के उस निर्णय के आधार पर ही, उस स्वर्ण की खान का मूल्याकंन कर लिया जाता है। इसीप्रकार हमारी वर्तमान आत्मा तो रागीद्वेषी अत्यन्त मलिन ही दिखाई दे रही है अर्थात्

अनुभव में आ रही है, उसमें शुद्ध आत्मा होने का अनुमान भी नहीं होता। लेकिन अनुसंधान- कर्ता ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा ने, जो स्वयं पहले हमारे जैसी ही अशुद्ध आत्मा थी, उस अपने आत्मा में अशुद्धियों का अभावकर, १०० टंच के शुद्ध स्वर्ण के समान, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया और वह स्वभाव वर्तमान में शुद्ध स्वर्ण के समान व्यक्त प्रगट है, विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके समान मेरे आत्मद्रव्य में भी वर्तमान में ही शुद्ध आत्मतत्त्व विद्यमान है, मुझे वह वर्तमान में नहीं दिख रहा है, इससे ज्ञात होता है कि यह मेरी दृष्टि का ही दोष है। सर्वज्ञ भगवान ने उस शुद्ध आत्मतत्व को प्राप्त करने के पश्चात् ही जिनवाणी में कथन किया है। इसप्रकार की दृढ़तम श्रद्धा जिसके हृदय में जाग्रत हुई हो, ऐसा आत्मार्थी ही, अपनी आत्मा में भेदज्ञानरूपी अनुसंधान करने की पात्रता प्रगट कर पाता है। ऐसा आत्मार्थी ही, अपनी अशुद्ध आत्मा में से, शुद्ध १०० टंच के शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मतत्व को, भेदविज्ञान के माध्यम से प्रयोजनभूत एवं उपादेय तत्त्व के रूप में, एवं अन्य सभी प्रकार की मिश्रित दिखने वाली अशुद्धताओं को अप्रयोजनभूत एवं हेय तत्व के रूप में पहिचान लेता है। ऐसी यथार्थ पहिचान कर लेने का फल, कालान्तर में हेय तत्वों का नाश होकर, उपादेय तत्त्व शुद्धात्मा, निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता है। ऐसी इस भेद विज्ञान की महिमा है।

भेदविज्ञान का मूल आधार

जिसप्रकार अशुद्ध स्वर्ण को खरीदते समय, उसका मूल्याकंन करने के लिए उस डली में शुद्ध १०० टंच का स्वर्ण कितना हैं, यह निर्णय ही मूल्याकंन का मूल आधार होता है। उसीप्रकार अशुद्ध आत्मा में भी शुद्ध आत्मा खोजने का आधार, शुद्ध आत्मा के स्वरूप की यथार्थ ज्ञान-जानकारी ही मूल आधार होता है।

जिसप्रकार स्वर्णकार अपने पुत्र को मूल्याकंन करने में निष्णात बनाने का प्रयत्न करता है तो सर्वप्रथम वह १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण की लकीर कसौटी पर लगाकर और उसके साथ ही अशुद्ध स्वर्णों की भी लकीरें लगाकर उसको देता है। उसके निर्णय के माध्यम से ही उसकी निष्णातता की परीक्षा करता है। जब तक उसके पुत्र के ज्ञान में मिश्रित स्वर्ण और १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट नहीं हो जावेगा, तब तक उसके निर्णय में निःशंकता एवं दृढ़ता नहीं आ सकेगी और तब तक वह निष्णात स्वर्णपरीक्षक नहीं हो सकता एवं ठगाया जा सकेगा। इसीप्रकार आत्मलाभ करने का तीव्र जिज्ञासु अनिष्णात आत्मार्थी, अशुद्ध आत्मा में जब शुद्ध आत्मा को खोजने का प्रयास करेगा तो, अपनी आत्मा में खोजने के लिये, १०० टंच के शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मतत्त्व का यथार्थ स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझे बिना, अपने में ही विद्यमान शुद्ध स्वभाव को कैसे पहिचान सकेगा, नहीं पहिचान सकेगा और शुद्ध आत्मा के स्पष्ट ज्ञान हुए बिना भेदविज्ञान भी किससे करेगा? कर ही नहीं सकेगा।

जिसप्रकार स्वर्णकार को जबतक शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान ही नहीं होगा, तबतक वह अशुद्ध स्वर्ण में कितनी प्रतिशत अशुद्धि है, इसका निर्णय कैसे कर सकेगा, नहीं कर सकेगा। उसीप्रकार अज्ञानी आत्मा को भी जबतक उसको शुद्ध आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह अशुद्धि को भी अशुद्धि, किस आधार से कह सकेगा, नहीं कह सकेगा अर्थात् उसको उसका भेदविज्ञान करना ही संभव नहीं हो सकता।

उपरोक्त सभी कथनों द्वारा यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अत्यन्त स्पष्ट, यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान हुए बिना किसी प्रकार भी भेदविज्ञान की पद्धति भी समझने में सफल नहीं हो सकता। तब आत्मलाभ की प्राप्ति तो संभव ही कैसे हो सकती है?

भेदविज्ञान की असफलता का कारण

बहुत से आत्मार्थी बंधु जिनवाणी का अभ्यास करके, सच्ची निष्ठा लगन एवं रुचि के साथ आत्मलाभ करने का पुरुषार्थ तो करते हैं। लेकिन फिर भी सफलता को प्राप्त नहीं होते, इसका कारण क्या ? विचार करने पर ज्ञात होता है कि जिनवाणी में नास्ति की अपेक्षा कथन तो बहुत होते हैं, लेकिन अस्ति की अपेक्षा तो विस्तार से कहा जाना संभव ही नहीं है। जैसे शुद्ध आत्मा को समझाने के लिए जिनवाणी में नास्ति की मुख्यता से ऐसा कथन किया जावेगा कि "आत्मा छह द्रव्यों के अनंतानंत पदार्थों से भिन्न हैं, स्त्री, पुत्र, मित्र, पैसा, मकान, जायदाद आदि सभी पदार्थों से भिन्न है, आत्मा शरीरादि बाह्य पदार्थों से भिन्न है; उसीप्रकार आत्मा द्रव्य कर्म तथा सभी प्रकार के भाव कर्मों से भी भिन्न हैं। इसी प्रकार ज्ञान में ज्ञात होने वाले सभी ज्ञेयों रूप भी नहीं है ; उनकी द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, सभी प्रकार से भिन्नता है एवं परपना है।" इत्यादि प्रकार के कथनों की ही जिनवाणी में बाहुल्यता मिलती है। अस्ति में तो मात्र इतना ही कहा जा सकेगा कि "आत्मा ज्ञानस्वरूपी अभेद है अर्थात् चैतन्य स्वरूपी है, अनन्त गुणों का भंडार होकर भी अभेद है।" कारण जो जिसमें होगा उस रूप ही तो उसको कहा जा सकेगा ? आत्मा मात्र अकेला एक द्रव्य है अत: उसमें अस्ति तो मात्र अभेदरूप से एक की ही हो सकती है और नास्ति में तो अनेकताओं से भरा हुआ सारा विश्व है। अत: नास्ति में तो अनंतानंत विषयों का होना स्वाभाविक है, इसलिये जिनवाणी में नास्ति के कथनों की बाहुल्यता होना भी स्वाभाविक है।

समयसार की गाथा नंबर ४९ के एवं उसके आगे की गाथा नं. ५० से ५५ तक के अध्ययन से यह तथ्य सहज ही सिद्ध होता है। उक्त गाथाओं का हिंदी पद्यानुवाद निम्नप्रकार है :—

जीव चेतनागुण, शब्द- रस- रूप- गंध- व्यक्ति विहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिंग से॥ ४९॥
नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं स्पर्श रस जीव के नहीं।
नहिं रूप अरु संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं॥ ५०॥
नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरू मोह जीव के हैं नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं॥ ५१॥
नहीं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्म स्पर्द्धक है नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥ ५२॥
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रू, बंधस्थान भी हैं नहीं।
नहिं उदयस्थान न जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं॥ ५३॥
स्थितिबंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धि स्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥ ५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीव के गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानों यही॥ ५५॥

उपरोक्त गाथाओं में गाथा नं. ४९ इतनी महत्वपूर्ण है कि वह कुंदकुंदाचार्य के पाँचों परमागमों के अतिरिक्त धवलग्रंथराज में भी अविकल रूप से मिलती है। पंचपरमागमों में प्रवचनसार में गाथा १७२ पंच्चास्तिकाय में १२७ नियमसार में ४८ तथा अष्टपाहुड़ की गाथा है। गाथा नंबर ४९ का अर्थ निम्नप्रकार है :—

"हे भव्य ! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा चेतना जिसका गुण है, ऐसा शब्द रहित किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा जान।"

उपरोक्त गाथा के अर्थ से स्पष्ट होता है कि इस एक ही गाथा में अस्ति के रूप में तो मात्र एक चेतनागुणवाला कहा गया एवं नास्ति के ही सात बोल हैं। इससे आगे की ५० से ५५ तक की गाथाओं में तो

सारे ही बोल मात्र नास्ति के ही हैं। इसीप्रकार से समस्त जिनवाणी के कथन की शैली भी इसीप्रकार की है।

इसलिए आत्मार्थी नास्ति के बोलों की, मुख्यता से पकड़कर अपने आत्मा को सबसे भिन्न मानने का प्रयास करने लगता है और मानता भी है एवं उसी आधार पर दूसरों को समझाता भी है कि जिनवाणी के कथनानुसार ऐसा मानना ही तो वास्तविक पुरुषार्थ है। ऐसी श्रद्धा बना लेने के कारण वह अपने ही स्वरूप अर्थात् वास्तविक स्वरूप को समझने में ही उदासीन बना रहकर उससे वंचित रह जाता है।

जिनवाणी में अस्ति की मुख्यता से आत्मस्वरूप को अवश्य समझाया है तथा उसको ही निश्चयनय का विषय कहकर उस ही को भूतार्थ - सत्यार्थ - उपादेय है और मुख्य करने योग्य है आदि-आदि प्रकार से गम्भीरतापूर्वक भार देकर बताया है। ऐसे उस अस्तिस्वरूप आत्मतत्त्व को समझे बिना नास्ति का पुरुषार्थ सफल हो ही नहीं सकता। क्योंकि जिस आत्मतत्व को उन सबसे भिन्न समझना है उसको ही समझे बिना भिन्न किससे समझेगा व किससे भिन्न करेगा ? जो १०० टंच के शुद्ध स्वर्ण को ही नहीं पहिचानता होगा वह तो पीतल को भी स्वर्ण मानकर उसको भी स्वर्ण की कीमत देकर खरीद लेगा।

इसीप्रकार जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को ही नहीं समझेगा। वह तो अशुद्ध आत्मा को एवं उसमें किन्चित् कषाय की मंदतारूप शुभभावों वाली आत्मा को ही शुद्ध आत्मा के रूप में मान लेगा और संतुष्ट हो जावेगा। शुद्धआत्मा के स्वरूप को नहीं पहिचानने वाला, वास्तव में अशुद्ध भावों को भी नहीं पहिचानता, मात्र शब्दों में बोलने तक ही सीमित रहता है। शुद्ध को जाने बिना, अशुद्धता को पहिचान ही कैसे सकेगा ? जब तक दोनों का ज्ञान उपस्थित नहीं होगा, शुद्ध-अशुद्ध का भेद कैसे

कर सकेगा ? निष्कर्ष यह है कि शुद्ध स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुए बिना भेद विज्ञान होना ही संभव नहीं है, नास्ति के कथनों के आश्रय से किसको भिन्न समझेगा ? मात्र असफलता ही प्राप्त होगी। फलतः उसका पुरुषार्थ आत्मलाभ के लिए किंचित् मात्र भी कार्यकारी नहीं हो सकेगा।

नास्ति के कथनों को मुख्य करके अपनी परिणति में, भी आत्मलाभ करने का प्रयास करने वाले आत्मार्थी, आत्मा को जिनसे भिन्न बताया गया है, उन सब परपदार्थों आदि के प्रति उपेक्षा बुद्धि प्रगट करने का अभ्यास भी करते हैं। सच्ची निष्ठा के साथ प्रयास करने वाले अभ्यासी पुरुषार्थी आत्मार्थी, उन पदार्थों के प्रति अनासक्तिभाव रखने में प्रयासरत भी रहते हैं, अतिमन्द कषायरूपभीवर्तते हैं। लेकिन इसप्रकार की कषायों की मंदता से, मिथ्यात्वसहित के शुभभावों के वर्तते हुए, उनको ऐसा भ्रम हो जाता है कि - "मैं आत्मलाभ करने के समीप पहुँच गया हूँ।" ऐसा मानकर वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहिचान करने की चेष्टा ही नहीं करते और नास्ति के कथनों में ही दृढ़ता बढ़ाते रहने के विकल्प करते रहने में ही संलग्न रहते हैं।

इसप्रकार का आत्मार्थी, कर्ताबुद्धि को और भी दृढ़ करता हुआ मिथ्यात्व को दृढ़ करता जाता है। यहाँ गंभीरता से विचार करने योग्य है कि जब तक आत्मा का उपयोग पर की सन्मुखता छोड़कर आत्मसन्मुखता नहीं करेगा, आत्मलाभ हो ही कैसे सकेगा ? उपरोक्त् प्रयासों में तो उपयोग, उक्त विकल्पों के करने के सन्मुख ही रहेगा इससे उसको आत्मलाभ कैसे सम्भव हो सकेगा ?

जैसे जयपुर निवासी एक पिता के २ पुत्र हैं। उनमें से एक प्रारम्भ से ही विदेश में रहने के कारण अपने घर को नहीं पहिचानता, दूसरा पहिचानता है। जब वे दोनों जयपुर आते हैं तो विदेशवासी पुत्र अपने घर को प्राप्त करने के लिए हर एक मकान को अपना मकान मानता हुआ

अटकने की व घुसने की चेष्टा करता है। जबकि दूसरा भाई उन मकानों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ते जाने की चेष्टा करता है तो वह पहला भाई बहुत दुःखी होता है और उससे झगड़ा करता है कि सब मकानों को क्यों छोड़ता जा रहा है। लेकिन पहले भाई को उनके छोड़ते जाने में प्रसन्नता हो रही है, क्योंकि अपना घर समीप आता जा रहा है। जब दोनों साथ-साथ घर के समीप पहुँच जाते हैं तो घर के पहिचानने वाला भाई तो वाहन छोड़कर घर में पदार्पण करने की चेष्टा करता है लेकिन विदेशी भाई कहता है कि तुम अभी तक सब मकानों को छोड़ते चले आ रहे हो, इसलिये मैं तो इसको भी अपना मकान स्वीकारता नहीं हूँ। मैं तो मेरा घर ढूँढकर ही उसमें जाऊँगा। इसको भी अपना घर कैसे मान लूँ। इस दृष्टान्त के माध्यम से विचार करें कि अपने घर को नहीं पहिचानने वाला, किसप्रकार अपने निवास का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। भटकते हुए ही अपना जीवन समाप्त कर देगा। लेकिन घर को पहिचानने वाला व्यक्ति तो निःशंकतापूर्वक अपने निवास का आनन्द प्राप्त करेगा ही। उसीप्रकार यथार्थ आत्मस्वरूप को पहिचानने वाले ज्ञानी को तो अन्य सबका निषेध करना नहीं पड़ता लेकिन उनमें अपने घर ऐसे आत्मा का चिन्ह नहीं मिलने से उन सभी पदार्थों का निषेध होता जाता है और अपने निवास स्थान के समान अपना स्वरूप प्राप्त होते ही, किस-किसका निषेध किया था, उनको याद भी नहीं करना पड़ता, सहज रूप से कर्ताबुद्धि बिना ही सबका निषेध वर्तने लगता है। इससे विपरीत अज्ञानी अपने घर की पहिचान बिना सबकी नास्ति करते हुए, अपने निवास स्थान प्राप्त करने में असफल रहता हुआ, चारों गतियों में भटकता रहता है।

तात्पर्य यह है कि अपने यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान करे बिना जितना जो कुछ भी किया जावे वह आत्मलाभ के लिये किंचित् मात्र भी कार्यकारी नहीं हो सकता।

अपने यथार्थ स्वरूप की पहिचान

अनादिकाल से इस जीव को अपना यथार्थ स्वरूप अभी तक ज्ञात नहीं है और जो आत्मा के रूप में ज्ञात हो रहा है अनुभव में आ रहा है, क्रोधी-मानी-मायावी-लोभी आदि अनेक विकृतियों का समुदाय ही आत्मा के रूप में जानने में आ रहा है। लेकिन ऐसा आत्मा तो वास्तविक आत्मा कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये भाव तो क्षण-क्षण में बदल जाते हैं एवं घटते-बढ़ते भी अनुभव में आते हैं और अकुलता उत्पादक है। दूसरी ओर यह भी विचार आता है कि ये विकृत भाव मेरे में ही तो हो रहे हैं इसलिए इनको आत्मा कैसे नहीं मानी जावे? लेकिन यह भी लगता है कि इन क्षण-क्षण में बदल जाने वाले भावों का कोई अधिष्ठाता तो अवश्य होना ही चाहिए, जिसमें ये भाव हो रहे हैं क्योंकि इन भावों का क्षण-क्षण में जन्म और मरण, किसी स्थाई सत्ता के बिना कैसे हो सकेगा? नहीं हो सकेगा। इसलिए अनुमान से ऐसा निश्चित होता है कि इन क्षणिक भावों का आधारभूत द्रव्य उसी समय विद्यमान रहना ही चाहिए। इसलिए ज्ञात होता है कि इन भावों के पीछे ही मेरी वह आत्मा छुपी हुई है, जिसकी मुझे खोज करना है। ऐसे दृढतम निर्णय और विश्वास के साथ आत्मार्थी जीव जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा के साथ, उसमें बताये गये मार्ग के द्वारा, अपने आत्मा में उत्पन्न होने वाले भावों में ही अपने, यथार्थ स्वरूप को खोजने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

आत्मस्वरूप को खोजने की विधि

उपरोक्त प्रयास करने में रत आत्मार्थी को, समस्या खड़ी होती है कि अनादिकाल से जो अपरिचित है, उस आत्मस्वरूप को कैसे खोजा जा सकेगा? यह कार्य तो असम्भव जैसा ही लगता है? आचार्य कहते हैं कि कठिन अवश्य है लेकिन अशक्य नहीं है। दृढ़तम विश्वास के साथ पुरुषार्थ करने से अत्यन्त सरल है।

उपरोक्त कठिन समस्या को सरलतम करने का उपाय भी आचार्य श्री बताते हैं कि किसी भी अपरिचित वस्तु को ढूँढने के लिये, सर्वप्रथम उसका चित्र-फोटो-मॉडल-आदर्श के रूप में अपने ज्ञान में स्पष्ट होना चाहिए। उस चित्र के आधार पर किसी भी वस्तु को खोजना सरल हो जाता है। जैसे किसी का पुत्र खो गया हो तब उसका चित्र फोटो टी.वी. पर प्रदर्शित किया जाता है तथा पुलिस में भी प्रार्थना-पत्र के साथ वह चित्र लगाकर प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। उस चित्र के माध्यम से पुत्र से अपरिचित व्यक्ति भी उसको ढूँढ निकाल लेते हैं। अपरिचित का परिचय प्राप्त करने का इससे सरलतम उपाय अन्य कोई नहीं हो सकता। अत: आत्मार्थी को भी अपने अपरिचित आत्मतत्त्व को खोजने के लिए जिनवाणी के माध्यम से ऐसे आदर्श - मॉडल को ढूँढ लेना चाहिए जिससे हमारे स्वरूप को खोजने का कार्य सरल एवं सफल हो सके। ऐसे हमारे आत्मस्वरूप के मॉडल अर्थात् आदर्श के रूप में जिनवाणी में भगवान अरहंत एवं सिद्ध की आत्मा को बताया गया है। ऐसा अनेक ग्रंथों में वर्णन है, यथा :—

प्रवचनसार गाथा ८० में कहा है —

"जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने, पर्यायपने जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह मिथ्यात्व अवश्य लय को प्राप्त होता है।"

इसीप्रकार समयसार गाथा १ की टीका में आचार्य अमृतचंद्र कहते हैं :—

यहाँ संस्कृत टीका में "अथ" शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। ग्रंथ के प्रारम्भ में "सर्वसिद्धों को भाव-द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का भाववचन और द्रव्यवचन से परिभाषण व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं" —

इसप्रकार श्री कुंदकुंदाचार्यदेव आगे और कहते हैं। "वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं, -जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति-मोक्ष को प्राप्त करते हैं।"

मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ७ पर भी इसी का समर्थन प्राप्त होता है।

"अथवा अरहंतादि के आकार का अवलोकन करना या स्वरूप विचार करना या वचन सुनना या निकटवर्ती होना या उनके अनुसार प्रवर्तन करना-इत्यादि कार्य तत्काल ही निमित्तभूत होकर रागादि को हीन करते हैं, जीव-अजीवादि के विशेष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इसलिये ऐसे भी अरहंतादिक द्वारा वीतराग-विशेषज्ञानरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।"

इसके अतिरिक्त अनेक ग्रंथों में भी उपरोक्त प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। करणानुयोग में तो भगवान अरहंत की जिनबिंब के दर्शन मात्र की ही इतनी महिमा बताई है कि उनके दर्शन मात्र से ही कर्मों में निधत्ति, निकांचित बंध भी, जिनका अन्य प्रकारों से टूटना अशक्य है उनका भी अभाव हो जाता है। अत: हर प्रकार से भगवान सिद्ध एवं अरहंत का आत्मा, हमारी आत्मा के स्वरूप को पहिचानने के लिये साक्षात् आदर्श-मॉडल के रूप ही सिद्ध होते हैं अर्थात् निर्णय में आता है।

भगवान अरहंत की आत्मा ही आदर्श क्यों ?

भगवान अरहंत की आत्मा भी भूतकाल में हमारे जैसी ही विकृत आत्मा थी। भूतकाल पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि, सभी आत्माओं का निर्गम स्थान तो निगोद ही है। वहाँ से ही मेरा भी आत्मा निकला है और वहाँ से ही अरहंत का आत्मा भी निकला था। निगोद से निकलकर

अरहंत के आत्मा ने भी अनेकानेक भवों में भ्रमण करते-करते, अपना स्व-काल प्राप्त हो जाने पर सत्समागम के प्रताप से, संसार दुःख से भयभीत होकर, अपने आपका अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने की तीव्रतम जिज्ञासा उत्पन्न की तथा संसार, देह भोगों के प्रति जो रुचि का वेग था वह उधर से वयावृत्त करके अर्थात् उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न करके, अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को आत्मस्वरूप समझने में लगा दिया। फलस्वरूप अपने आत्मा का एवं अपने ज्ञान में ज्ञात होने वाले अन्य ज्ञेयों का तथा रागादि क्षणिक भावों का यथार्थ स्वरूप एवं संबंधों को समझा। उनमें से रागादि भाव तो संयोगी एवं क्षणिक नाशवान भाव है। उनका उत्पादन तो बड़ा ही उपयोगगण क्षेत्रों संसंयोग कर लेता है, तब उत्पन्न होते हैं । अतः वेदों में हो ही नहीं सकता। लेकिन ज्ञान तो त्रिकाली विद्यमान रहने वाले भाव हैं, उनके संवयगें विस्तार से समझना है। उक्त यथार्थ समझ के द्वारा, वे ऐसे निर्णय पर पहुँचे कि जिसकी सत्ता में, जगत के सभी पदार्थों का ज्ञान होता है, ऐसी ज्ञायकरूपी ध्रुवसत्ता, जिसका जानने का काम एक समयमात्र भी कभी रुकता नहीं, "वह ही मैं हूँ" और जो भी जितने भी पदार्थ मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे सब मेरे से अत्यन्त भिन्न ही हैं। जो मेरे से भिन्न है, उनको अनादिकाल से मैं मेरा मानकर, उनमें अहंकार-ममकार करता रहा, उसके फलस्वरूप मेरी क्षणिक पर्याय में रागादिविकार भी उत्पन्न होते रहे हैं, जिनके कारण मेरा आत्मा ही मुझे रागी द्वेषी आदि दिख रहा है। इसप्रकार की अपनी भूल समझ में आ जाने पर एवं अपने आत्मा के स्वरूप का विचार करने पर, निर्णय में आया कि वास्तव में मेरा स्वरूप तो भगवान सिद्ध की आत्मा जैसा ही है, उनके ज्ञान में सकल ज्ञेय ज्ञात होते हुए भी, उनके प्रति मेरे पने की मान्यता के अभाव के कारण, अरहंत भगवान उनके प्रति इतने उपेक्षित रहते हैं जैसे कि उनका अस्तित्व ही नहीं हो, फलस्वरूप उनको रागादि उत्पन्न

होने का अवकाश ही नहीं रहता। इसी कारण वे निरन्तर आनन्द में मग्न रहते हैं। पं. भागचंद जी ने अपने पद में कहा भी है कि :—

नित्य निगोद मांहि तैं कढ़ि कर, नर परजाय पाय सुखदानी।
समकित लहि अंर्तमुहूर्त मैं, केवलपाय वरै शिवरानी॥

इसप्रकार भगवान अरहंत की आत्मा ने भी अपने आत्मा का स्वरूप-स्वभाव, भगवान सिद्ध के जैसा जाना और माना, उससे ऐसी दृढ़तम श्रद्धा उत्पन्न हो गई, कि "मैं तो सिद्ध ही हूँ। ऐसी श्रद्धा जाग्रत होने से, पर एवं पर्याय मात्र से अर्थात् ज्ञेयमात्र के प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप उनके जानने के प्रति उत्साह ही निवृत्त हो गया और सहज ही हठ किये बिना ही आत्मा का सम्पूर्ण पुरुषार्थ आत्मसन्मुख कार्यशील हो गया एवं क्रमशः आत्मस्थिरता में वृद्धि करता हुआ पूर्णता को प्राप्त हो गया है अर्थात् उनका उपयोग अपने आत्मा में ऐसा गर्क अर्थात् डूब गया कि बाहर निकलता ही नहीं। इसी दशा का नाम अरहंत दशा है।

कविवर पं. भागचंदजी ने एक पद्य में कहा भी है कि :—

अप्रमेय ज्ञेयनिके ज्ञायक नहिं परिणमति तदपि ज्ञेयनि में।
देखत नयन अनेक रूप जिम, मिलत नहीं पुननिज विषयनि में॥
निज उपयोग आपने स्वामी, गाल दियो निश्चल आपुन में।
है असमर्थ बाह्य निकसनिकों, लवण घुला जैसे जीवन में॥
वीतराग जिन महिमाथारी, वरण सकै को जन त्रिभुवन में॥ टेक॥

इसप्रकार भगवान अरहंत की आत्मा को आदर्श बनाकर उनके प्रतिबिम्ब के मात्र दर्शन करते हुए मुझे उनकी आत्मा की उक्त सम्पूर्ण दशा ज्ञान में दिखने लगती है और अंदर ऐसा पुरुषार्थ जाग्रत होता है

कि उनकी आत्मा भी मेरे जैसी ही संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा थी, उनने जिस मार्ग को अपना कर संसार परिभ्रमण का अंत करके अरहंत दशा प्राप्त की, तो मैं भी उस ही मार्ग को अपनाकर स्वयं अरहंत बन सकता हूँ आदि-आदि। इसप्रकार हम भी अपने पुरुषार्थ को जाग्रत करने के लिये, उनको हमारे आदर्श - मॉडल के रूप में स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उपरोक्त कार्य की सिद्धि के लिये जिनवाणी में भगवान अरहंत की ही प्रतिकृति के रूप में प्रतिबिम्ब की स्थापना करने का विधान भी है एवं नित्य प्रातःकाल सर्वप्रथम उनके दर्शन पूजन आदि करने का विधान भी है और परम्परा भी है। हम यह मानते हैं कि यह जैन मात्र का कर्तव्य भी है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ के पृष्ठ ५ पर तो यहाँ तक लिखा है कि "त्रिलोक में जो अकृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, मध्यलोक में विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिम्ब विराजमान हैं, जिनके दर्शनादि से एक धर्मोपदेश के बिना अन्य अपने हित की सिद्धि जैसे तीर्थंकर केवली के दर्शनादिक से होती है वैसे ही होती है, उन जिनबिम्बों को हमारा नमस्कार हो।"

इसीप्रकार जिनबिम्ब दर्शन की जिनागम में अनेक स्थानों पर महिमा की गई हैं क्योंकि उनके दर्शनमात्र से हमें वह सब मार्ग ज्ञान में प्रत्यक्षवत् हो जाता है, जिस मार्ग को अपनाकर वे स्वयं अरहंत हुए।

अपना स्वरूप समझने के लिए

भगवान सिद्ध की आत्मा आदर्श कैसे ?

हम जब-जब अपने आत्मा का स्वरूप अपने में ही ढूढ़ने की चेष्टा करते हैं तो हमको तो आत्मा रागी-द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी ही लगता है। लेकिन विचार करने पर ये सारे भाव मुझे अहितकर तो लगते ही हैं तथा हर समय बदल भी जाते हैं, फिर भी मेरा अस्तित्व तो जैसा का

तैसा ही अनुभव में आता है। अतः यह तो विश्वास होता है कि ये भाव तो आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि जब मैं एक सरीखा कायम बना रहता हूँ तो मेरे भाव भी कायम एक से ही बने रहने वाले होना चाहिए। अर्थात् द्रव्य जैसा हो, वैसी ही पर्याय भी होनी ही चाहिए उस ही से तो आत्मा के स्वरूप का पता लग सकेगा और उस ही से आत्मा की पहिचान भी की जा सकेगी।

सिद्ध भगवान की आत्मा का जैसा द्रव्य है, वैसी ही पर्याय भी हो गई है। पर्याय में जो स्वरूप प्रगट हो गया है वह ही द्रव्य का स्वरूप था और द्रव्य का जैसा स्वरूप था वह पूरा का पूरा वैसा का वैसा ही पर्याय में भी प्रगट हो गया। इसलिए द्रव्य की ओर से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से देखे तो वही स्वरूप, द्रव्य जैसा ही दिखेगा और वह ही स्वरूप पर्याय की ओर से अर्थात् पर्यायार्थिकनय से देखने पर भी द्रव्य जैसा ही दिखेगा। इसप्रकार जिसमें किसी भी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़े वह ही यथार्थ स्वरूप हो सकता है और उस स्वरूप को लक्षण बनाने से ही, आत्मा के यथार्थ स्वरूप की पहिचान हो सकती है। लेकिन किसी भी संसारी जीव का आत्मा ऐसा नहीं मिल सकता, जिसके द्रव्य और पर्याय दोनों एक सरीखे हों ? अतः आत्मा का यथार्थ स्वरूप ढूँढ़ने के लिए भगवान सिद्ध का आत्मा ही ऐसा आत्मा है, जिसको ही आदर्श बनाकर हम अपने आत्मा के स्वरूप की खोज कर सकते हैं।

अतः अनादिकाल से अपरिचित ऐसे अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने के लिए सिद्ध भगवान की आत्मा के स्वरूप को समझकर, उस स्वरूप को अपने आत्मा में खोज करेंगे तो हम अपने स्वरूप को पहिचान कर, उसके आश्रय से, अपने ही अन्दर उत्पन्न होने वाली विकृतियों का अभाव कर, आत्मा को पूर्ण शुद्ध भगवान सिद्ध के

समान बना सकेंगे। नाटक समयसार के कवित्त नं. ११ में कहा भी है कि :—

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध समान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महातम घेरौ॥
ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधैं शिव मारग वेग मिटे भववास बसेरौ॥ ११॥

भगवान सिद्ध की पर्याय के द्वारा आत्मा के स्वभाव का परिचय

भगवान सिद्ध की आत्मा का स्वरूप तो द्रव्य से समझा जावे तो अथवा पर्याय से समझा जावे तो भी एकसा ही है लेकिन हमारी आत्मा का द्रव्य जैसा है वैसी पर्याय नहीं रहती। अतः मेरी पर्याय द्रव्य जैसी ही हो जावे, यह ही मेरी मनोकामना है, प्रयास है और इसके लिये ही मुझे अपनी पर्याय के साथ-साथ भगवान सिद्ध की पर्याय को समझना है, ताकि मैं अपनी पर्याय की शुद्धि कर सकूँ।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि हर एक वस्तु का द्रव्य स्वरूप तो अव्यक्त रहता है, द्रव्य स्वयं अपने स्वरूप का परिचय नहीं देता, क्योंकि वह तो अकर्ता स्वभावी है। वह अपने परिचय देने का कार्य कैसे करे? नहीं कर सकती।

द्रव्य में बसी हुई समस्त सम्पदाओं का परिचय तो पर्याय से ही प्राप्त होता है। भगवान सिद्ध की आत्मा का पर्यायार्थिकनय से जो परिचय प्राप्त होगा वही द्रव्यार्थिक नय से भी प्राप्त होता है। अतः उनकी आत्मा के स्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए निःशंकतापूर्वक किसी भी प्रकार से पूर्ण पुरुषार्थ के साथ स्वरूप समझना चाहिए। तात्पर्य यह है

कि उनकी पर्याय का जो भी स्वरूप है वह उनके द्रव्य का स्वरूप है। ऐसा निःशंक होकर स्वीकार अर्थात् श्रद्धान करना चाहिए। किंचित् मात्र भी ऐसी शल्य नहीं रखनी चाहिए कि पर्याय के स्वरूप से द्रव्य के स्वरूप में किंचित् मात्र भी अन्तर हो सकता है। ऐसी निःशंक श्रद्धा जाग्रत हुए बिना उनके स्वरूप के द्वारा हम अपने आत्मा का स्वरूप कैसे पहिचान सकेंगे? नहीं पहिचान सकेंगे। इसलिए आत्मार्थी पूर्ण निःशंकतापूर्वक पहिचानने के लिये अपने ही अन्दर अनुसंधान प्रारम्भ करता है।

अब प्रथम आवश्यकता है कि सिद्ध भगवान के स्वरूप को समझने की। संसार के हर एक आत्मा में गुण तो अनन्त विद्यमान हैं। उन गुणों का पूर्ण विकास हो जाना तथा उनमें दिखने वाली सभी विकृतियों का अभाव हो जाना, वही है सिद्ध भगवान की आत्मा का परिचय और उन गुणों का पूर्ण विकास न होते हुए विकृतिरूप अविकसित रूप भी परिणमन, वही है संसारी आत्मा का परिचय। हमारी आत्मा के गुणों के विकास की पराकाष्ठापूर्वक विकृति के अभावरूप शुद्धता की मर्यादा का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। उसको समझने के लिए हमको भगवान सिद्ध की आत्मा के पूर्ण विकास एवं शुद्धता को समझना ही होगा। उससे ही अपने आत्मा का स्वरूप एवं अपनी आत्मा की पर्याय में भी पूर्णता प्रगट करने एवं विकृतियों का अभाव करने का मार्ग भी ज्ञात हो सकता है। इसलिये भगवान सिद्ध की आत्मा की वर्तमान में प्रगट हुई पर्याय का स्वरूप समझ लेने से हमको आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो जायेगा और समझ में आ सकेगा तथा ऐसा विश्वास अर्थात् श्रद्धा जाग्रत होने का अवकाश खड़ा हो जावेगा कि वास्तव में मेरा आत्म-स्वभाव भी सिद्ध समान ही है। भैया भगवतीदासजी के ब्रह्मविलास के कवित्त १६ में कहा भी है कि :—

आत्मा अनुपम है दीसै रागद्वेष बिना,
देखो भवि जीवों तुम अपने में निहार कै।
कर्म को न अंश कोउ भर्मको न वंश कोऊ,
जाकी शुद्धताई में न और आप टारकें॥
जैसो शिवखेत बसै तैसो ब्रह्म यहाँ लसै,
यहाँ वहाँ फेर नाहीं देखिये विचार के।
जोई गुण सिद्ध माहिं सोई गुण ब्रह्ममांहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निहचै निरधार के॥

उपरोक्त समस्त चर्चा का निष्कर्ष यही है कि भगवान सिद्ध की आत्मा के स्वरूप को उनकी पर्याय के माध्यम से समझा जावे।

भगवान सिद्ध की पर्याय अनन्त चतुष्टयरूप

भगवान सिद्ध की आत्मा की तो अनन्त गुणों की समस्त पर्यायें पूर्णता व शुद्धता को प्राप्त हो चुकी हैं, अतः उनकी समस्त पर्यायों का विवेचन तो पूर्णतः असम्भव है। इसलिये उनमें मोक्षमार्ग का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये जो मुख्य गुण हों मात्र उन्हीं गुणों के माध्यम से सिद्ध की पर्याय की पूर्णता को हम समझेंगे।

नियमसार गाथा १८२ की टीका में कहा है कि :–

"यह, भगवान सिद्ध के स्वभावगुणों के स्वरूप का कथन है।

निरवशेष रूप से अन्तर्मुखाकार - सर्वथा अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसे स्वात्माश्रित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों का विलय होने पर, उस कारण से भगवान सिद्ध परमेष्ठी को केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसुख, अमूर्तत्व, अस्तित्व, सप्रदेशत्व आदि स्वभावगुण होते हैं।"

उपरोक्त गाथा १८२ की टीका में भगवान सिद्ध के स्वभाव गुणों

का स्वरूप एवं उनकी उपलब्धि के कारणों की ओर भी पर्याप्त संकेत है।

"इनमें प्रथम के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि में अनन्त अनुजीवी गुणों का एवं शेष के अमूर्तत्व, अस्तित्व, सप्रेदशत्व आदि अनन्त प्रतिजीवी गुणों की पूर्णता एवं शुद्धता बतलाकर, सिद्ध भगवान की आत्मा के द्रव्य एवं पर्यायों का पूर्ण विकास होकर, जो स्वरूप प्रगट हुआ, उसका स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन कराया है। साथ ही उन उपलब्धियों का श्रेय उनकी आत्मा के उपयोग को सर्वथा सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखाकार होना बताया है अर्थात् जो उपयोग पूर्व में परसन्मुख वर्तता था, उसको ही सम्पूर्ण रूप से आत्मसन्मुख करके, स्वात्माश्रित परमशुक्लध्यान शुद्धोपयोग के बल से, समस्त भावकर्मरूप अशुद्धि एवं अपूर्णताओं का अभाव हो जाने से उनकी आत्मा में बसे हुए अनन्त गुणों का शुद्ध एवं पूर्ण होना बतलाया है।"

आत्मा के अनन्त भावों में भी जिनवाणी में, जीवतत्त्व के साथ संबंध रखने वाले अनन्त अनुजीवी गुणों में से भी मात्र ४ गुण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य की शुद्धता को ही मुख्य रूप से लिया है, भगवान सिद्ध के अनन्त चतुष्टयों में भी १ अनंतज्ञान, २ अनंतदर्शन, ३ अनन्तवीर्य, ४ अनन्त- सुख इसप्रकार इन चारों को ही भगवानसिद्ध की अनुभूति का परिचय कराने के लिये मुख्य लिया है। अतः हमको भी भगवान सिद्ध की आत्मा का स्वरूप समझने के लिए उपरोक्त चारों गुणों की पर्यायों के सम्पूर्ण विकास के स्वरूप को मुख्य रूप से समझना होगा।

भगवान सिद्ध के उपरोक्त गुणों के पूर्ण विकास का स्वरूप समझने के लिए, आत्मार्थी की कठिनता यह है कि सिद्ध भगवान की आत्मा तो हमारे ज्ञान में प्रत्यक्ष हो नहीं सकती, तब उनका स्वरूप समझने के लिए आगम, युक्ति, अनुमान गुरू उपदेश एवं स्वानुभूति ही एकमात्र आधार

है, जिसके द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय हो सकता है। समयसार गाथा ५ की टीका से भी ऐसा ही स्पष्ट होता है। वह टीका निम्नानुसार है :—

"आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निज वैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊंगा, ऐसा मैंने व्यवसाय उद्यम, निर्णय किया है। मेरे आत्मा का वह निज वैभव इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है, और "स्यात्" पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म -अर्हन्त का परमागम है, उसकी उपासना से उसका जन्म हुआ है। "स्यात्" का अर्थ "कदाचित" है अर्थात् किसी प्रकार से - किसी अपेक्षा से कहना। परमागम को शब्दब्रह्म कहने का कारण यह है कि - अर्हन्त के परमागम में सामान्य धर्मों के - वचनगोचर समस्त धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो विशेषधर्म है, उनका अनुमान कराया जाता है, इसप्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं। समस्त विपक्ष-अन्य वादियों द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निज वैभव का जन्म हुआ है और निर्मल विज्ञानघनआत्मा में अन्तर्निमग्न अन्तर्लीन परमगुरू - सर्वज्ञदेव और अपरगुरू- गणधरादिक से लेकर हमारे गुरूपर्यन्त, - उनके प्रसाद रूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभव का जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ-स्वाद में आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुर संवेदन स्वरूप स्वसंवेदन से निज वैभव का जन्म हुआ है। यों जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का वैभव है उस समस्त वैभव से दिखाता हूँ।"

उपरोक्त कथन की सम्पुष्टि में उपरोक्त चारों गुणों की संसारी आत्मा की स्थिति को समझा जावे, क्योंकि सिद्ध भगवान की आत्मा में

तो उपरोक्त गुण पूर्णता को प्राप्त होकर पूर्णशुद्ध हो गये हैं और संसारी के वे ही गुण विकारी एवं अपूर्ण हो रहे हैं। उक्त गुणों की विपरीत दशा के सद्भाव से, संसारी आत्मा दुःख दशा भुगत रहा है, अतः उन सबका अभाव ही चाहता है और उसके अभाव की पराकाष्ठा रूपी सुख सिद्ध भगवान को है, ऐसा सहज ही अनुमान प्रगट होता है और वह आगम से मेल खाता हुआ होने से ऐसी श्रद्धा ही सम्यक श्रद्धा है। ऐसा विश्वास जागृत होता है।

अनन्त चतुष्टय प्रगट करने में ज्ञानोपयोग की मुख्यता

उपरोक्त कथन का संक्षेपण करके विचार करें तो स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि इस आत्मा के उपयोग का बहिर्मुखकार उपयोग वर्तन ही आत्मा की इस विकृत एवं अविकसित दशा का मूल कारण है। क्योंकि भगवान सिद्ध ने अपनी आत्मा के उपयोग को पर से व्यावृत्त करके सर्वथा अन्तर्मुखाकार कर लिया, उस ही के फलस्वरूप, आत्मा पूर्ण शुद्धता एवं परिपूर्णता को प्राप्त हो गई। अतः हमको भी अपनी आत्मा की सिद्ध दशा प्राप्त करने के लिए, आत्मा के अनन्त गुणों में से मात्र एक ज्ञान गुण के कार्य, उपयोग की पर सन्मुखता का अभावकर उसको अन्तर्मुखाकार करना है। यह दशा प्राप्त करने के लिये यह पर सन्मुखता क्यों बनी हुई है उसके कारणों का अभाव करना है। उसका कारण पर में अपनेपन की बुद्धि एवं सुखबुद्धि की श्रद्धा यह श्रद्धा गुण की विपरीतता है। इसप्रकार हमारे आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने में बाधक इन तीन विषयों पर सूक्ष्मता एवं गम्भीरता के साथ पूर्ण रुचिपूर्वक, एकाग्रमन से विचारकर समझना चाहिये। इसलिये हम वर्तमान प्रकरण में सर्वप्रथम आत्मा के ज्ञानगुण के माध्यम से अपने उत्थान के मार्ग को समझेंगे।

पं. दीपचन्दजी शाह ने ज्ञानदर्पण के कवित्त २२ में भी सिद्धभगवान के ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहा है :—

"लोकालोक लखिकै सरूप में सुथिर रहै,
विमल अखंड ज्ञानजोति परकासी है।
निराकाररूप शुद्धभाव के धरैया कहा,
सिद्ध भगवान एक सदा सुखरासी है॥
ऐसौ निजरूप अवलोकत है निहचै मैं,
आप परतीति पाय जगसौ उदासी है।
अनाकुल आतम अनूप रस वेदतु हैं,
अनुभवी जीव आप सुख के विलासी हैं॥ २२॥

उपरोक्त कविता में सिद्ध भगवान के केवलज्ञान का स्वरूप बताया है कि "वह लोकालोक को जानते हुए भी आत्मा में स्थिर रहते हैं अर्थात् उनका उपयोग उस लोकालोक की तरफ जाता ही नहीं है।" इस बात को समझना कठिन लगता है, क्योंकि ऐसा लगता है कि उपयोग उस तरफ गये बिना उनका जानना कैसे हो सकेगा ? और पर की ओर उपयोग होगा तो अन्तर्मुखाकार उपयोग कैसे रह सकेगा, उपयोग आत्मा में स्थिर हुए बिना, आत्मा को निराकुलता रूपी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, कारण परमुखापेक्षी ज्ञान के विषय तो अनेक रहेंगे ही, अतः ज्ञप्ति परिवर्तन अवश्यंभावी हो जाने से आकुलता उत्पन्न होना अनिवार्य हो जावेगा। इसलिये भी सिद्ध भगवान का उपयोग सर्वथा अन्तर्मुखाकार होना ही सिद्ध होता है तथा इसी कारण उनकी आत्मा परमसुखी है।

निष्कर्ष यह है कि सिद्ध भगवान की आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए प्रयोजनभूत विषय तो मात्र इतना ही रह जाता है कि उपरोक्त प्रकार से आत्मा के ज्ञानोपयोग को आत्मसन्मुख कैसे किया जावे। उसके कारणरूप श्रद्धागुण एवं चारित्रगुण की विपरीतता आदि को समझकर अपनी आत्मा को भी सिद्ध भगवान बनने के मार्ग का पथगामी बनाया

जावे ताकि मेरा प्रयोजन तो सिद्ध भगवान को प्राप्त अनाकुलतारूपी सुख है, उसको मैं भी प्राप्त कर, पूर्ण सुखी होकर अनन्तकाल तक परमसुखी बना रहूँ।

आत्मा की ज्ञान पर्याय का स्वरूप

चेतनालक्षण आत्मा है, वह ही आत्मा के अस्तित्व का परिचायक है। चेतना का अस्तित्व ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। उस चेतना के कार्य, दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग के द्वारा ही प्रगट होते है। उनमें से दर्शनोपयोग का अति अल्पकाल होनेसे छद्मस्थ के ज्ञान की पकड़ में नहीं आता। इसलिये जिनवाणी में भी सर्वत्र ज्ञान के रूप में ही आत्मा को सम्बोधित किया गया है। आत्मा के सर्वगुणों के कार्य भी ज्ञान के द्वारा ही प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञात होते हैं। संक्षेप में कहो तो आत्मा की और आत्मा में बसे अनन्त गुणों की व उनके कार्यों की जानकारी भी एक ज्ञान के द्वारा ही होती है। आत्मा के ज्ञान, श्रद्धा, चारित्रादि गुणों के विकृत एवं अपूर्ण परिणमनों की अथवा उनके अविकृत एवं पूर्ण विकास को प्राप्त गुणों के कार्यों की जानकारी अर्थात प्रसिद्धि भी ज्ञान से ही प्रकाशित होती है। इसलिये हम भी इस प्रकरण में आत्मा की शुद्धि, अशुद्धि एवं पूर्णता, अपूर्णता की एवं आत्मा की संसारदशा एवं सिद्ध दशा की चर्चा भी ज्ञान के माध्यम से ही करेंगे।

सिद्ध भगवान से विपरीत संसारी जीव का ज्ञानोपयोग

संसारी जीव के ज्ञान एवं दर्शन गुणों का विकास अतिअल्प, अर्थात् प्राप्त क्षयोपशम जितना ही प्रगट होता है। जबकि सिद्ध भगवान का ज्ञान एवं दर्शन गुण क्षायिक हो जाने से, सम्पूर्ण विकास को प्राप्त होकर केवलज्ञान एवं केवलदर्शन रूप प्रगट हो जाता है। फलतः संसारी जीव नहीं जानने में आये हुए पदार्थों को जानने की इच्छा होते हुए भी, क्षयोपशमानुसार अतिअल्प विषयों को ही जान पाता है। अतः वह तो

जानने की इच्छा बनी रहने के कारण आकुलित रहते हुए निरन्तर दुःखी-दुःखी ही बना रहता है। इससे विपरीत सिद्ध भगवान का ज्ञानदर्शन पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाने से, जितने भी जानने योग्य पदार्थ - विषय जगत में हो सकते हैं, वे सब ही ज्ञान में पहले से ही प्रत्यक्ष रहने से, उसको जानने की इच्छा ही उत्पन्न होने का अवकाश नहीं रहता। अतः इच्छा के अभाव में वे अत्यन्त अनाकुल बने रहने के कारण अत्यन्त सुखी ही सुखी हैं। अतः संसारी और मुक्त जीव की अनुभूति में सबसे बड़ा एवं मुख्य अंतर तो यही रहता है कि संसारी जीव आंकुलित रहने से महादुःखी रहता है एवं सिद्धजीव अनाकुलता के कारण सुखी ही सुखी रहते हैं। निष्कर्ष यह है कि इच्छा ही आकुलता की जननी है और आकुलता ही दुःख है। जहाँ इच्छा का अभाव है, वहाँ आकुलता का भी अभाव है और जहाँ आकुलता ही नहीं है वहाँ दुःख का सद्भाव भी असम्भव है। एकमात्र जानने की इच्छा से ही समस्त संसारी जीव दुःखी है लेकिन सिद्ध भगवान को जानने को बाकी रहा ही नहीं, अतः इच्छा उत्पन्न होने का अवकाश नहीं रहने से वे ही परमसुखी हैं व बने रहते हैं।

दर्शन और ज्ञान दोनों ही एक चेतना के ही भेद हैं। ज्ञेय पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है तो उसको जानने वाली शक्ति भी सामान्य विशेषात्मक होनी ही चाहिए। अतः सामान्यांश अर्थात् अभेद का जानने वाली चेतना को दर्शन कहा है एवं विशेष अर्थात् भेद-प्रभेद सहित, ज्ञेय पदार्थ को जानने वाली सामर्थ्य को ज्ञान कहा गया है। सामन्यांश अभेद होने से निर्विकल्प होता है लेकिन विशेषपक्ष अनेकता द्योतक होने से सविकल्प होता है, अतः उसको जानने वाला ज्ञान भी सविकल्पक होता है। यहाँ विकल्प का अर्थ राग सहित वाला विकल्प नहीं समझना, मात्र अद्वैत को निर्विकल्प एवं द्वैत को जानने वाले ज्ञान को सविकल्प समझना,

यही कारण है कि दर्शनोपयोग का काल अतिअल्प रहता है तथा ज्ञानोपयोग का काल उससे लंबा होने के कारण चेतना का समस्त कार्य ज्ञान के माध्यम से ही सम्पन्न होता हुआ ज्ञात होता है और जिनवाणी में भी ज्ञान को ही आत्मा को पहिचानने के लिये लक्षण भी कहा है एवं ज्ञान की मुख्यता से ही आत्मा को संबोधन किया गया है तथा भूल करने का अथवा भूल सुधारने का दायित्व भी एक ज्ञान को ही बताया गया है। इसलिये ज्ञान की भूल ही संसार मार्ग एवं ज्ञान की स्वाभाविक स्थिति ही मोक्षमार्ग है।

अनन्तसुख की विपरीतता

अब तीसरे अनन्त चतुष्टय में आये हुये अनन्त सुख के संबंध में भी संसारी जीव के माध्यम से ही विचार करना है। विचार करने पर समझ में आता है कि सुख की विपरीतता ही दुःख है। संसारी प्राणी निरंतर दुःख का ही वेदन कर रहा है, और इसका अभाव कर सुखी होना चाहता है। ऐसे सुख की पराकाष्ठा का वेदन - अनुभव जिनको हो, वे ही सिद्ध भगवान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ७८ पर कहा है :—

"इस जीव का प्रयोजन तो एक यही है कि दुख न हो और सुख हो, किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है तथा दुःख का न होना, सुख का होना एक ही है, क्योंकि दुःख का अभाव वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है।"

संसारी जीव के दुःख के संबंध में विस्तार से विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्राणी मात्र आकुलता को सहन नहीं कर सकने के कारण उसके प्रतीकार करने के प्रयासों में ही निरन्तर लगा रहता है और उसमें किंचित भी सफलता प्राप्त हो जाने पर अपने को सुखी मानने लगता है और असफल होने पर आकुलता और भी बढ़ जाने से दुःखी अनुभव करने लगता है। इस अनुमान से ही स्पष्ट है कि जब आकुलता के अभाव

करने को संसारी जीव सुख मानता है तो जिसको आकुलता ही उत्पन्न नहीं हो, वह जीव कितना सुखी होगा, इस अनुमान से ही स्पष्ट है कि वही सुख की पराकाष्ठा है और वही अनन्त सुख है ; जिसके भोक्ता सिद्ध भगवान बने रहते हैं।

इस ही विषय को अन्य दृष्टि से भी विचार करें तो समझ में आवेगा कि संसारी प्राणी इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति को ही सुख मानता है। इसकी ऐसी विपरीत मान्यता कैसे है, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि इसका मूल कारण भी तो सुख की खोज ही है। अनादिकाल से इस जीव ने आत्मा का यथार्थ स्वरूप तो समझा नहीं , मेरा सुख अनाकुल शांति है, वह मेरे में ही है, अत: मुझे मेरा सुख खोजने के लिये बाहर झांकना भी निरर्थक है। अगर बाहर की ओर भटकना समाप्त कर, अपने आप में ही विश्राम करने लगे तो वहाँ तो द्वैत का अर्थात् दो पने का ही अभाव होने से, आकुलता का उत्पादन ही कैसे हो सकेगा ? अत: आत्मा अनाकुलतारूपी सुख का भोक्ता बना रह सकता है। ज्ञान के बाहर भटकने से, बाहर तो अनेकता ही अनेकताऐं हैं, उनमें जानने की इच्छा रहने से तो ज्ञान - ज्ञेयों को बदलता ही रहेगा, फिर आकुलता का अभाव कैसे होगा ? इस प्रकार की यथार्थ समझ कभी जागृत नहीं हुई, फलत: विपरीत मान्यता के कारण सुख की प्राप्ति के लिये अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो भी ज्ञेय इसके ज्ञान में ज्ञात होते हैं, ज्ञान उनकी ओर ही सुख की खोज के लिये दौड़ता है।

ज्ञान जब परसन्मुख होकर दौड़ने की कोशिश करता है तो मकान के दरवाजों के समान, ज्ञान को बाहर निकलने में इन्द्रियाँ इसके बीच में पड़ती हैं। लेकिन इसका ज्ञान क्षायोपशमिक होने से पाँच में से मात्र एक इन्द्रिय के माध्यम से ही एक समय बाहर निकल पाता है बाकी की चारों

इन्द्रियाँ एवं मन का विषय तो हमेशा जानने को बाकी बना ही रह जाता है। लेकिन इन्द्रियों के विषयों में सुख होगा, इसप्रकार की मान्यता से संतप्त रहने के कारण, अज्ञानी का ज्ञान उस इन्द्रिय को छोड़कर अन्य इन्द्रियों में सुख होगा, इसप्रकार की इच्छारूपी आकुलताओं से इन्द्रियों के विषयों को शीघ्र-शीघ्र बदलता हुआ अत्यन्त दु:खी होता रहता है। सुख की खोज में, ज्ञेयों में ही सुख को ढूंढ़ता रहता है। लेकिन सुख की खोज के लिये ज्ञान जिस ज्ञेय के सन्मुख हुआ था, पुण्य के योग से उस विषय की प्राप्ति हो जावे तो उस संबंधी आकुलता की किंचित कमी हो जाने से, ऐसा मानने लगता है कि इन्द्रिय से ही यह सुख प्राप्त हुआ है लेकिन ये इन्द्रियाँ तो जड़ पुद्गल द्रव्य हैं, ये तो सुख-दु:ख का वेदन कर ही नहीं सकती। ज्ञान जो उस समय कार्यशील था, उसमें मात्र उक्त विषय की जानकारी हुई है लेकिन अपनी विपरीत मान्यता के कारण अज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानकर, उन इन्द्रियों को ही उस शमनतारूपी सुख का कारण मानकर, उन इन्द्रियों को ही उस सुख का कारण मानकर, उनकी ही पुष्टि करने की चिंता एवं चेष्टा करता हुआ दु:खी और दु:खी ही बना रहता है।

उपरोक्त कथन का सारांश यह है कि इन्द्रियों के विषयों में सुख है, ऐसी मान्यता ही विपरीतता है। इस मान्यता के कारण ही ज्ञानोपयोग उन ज्ञेयों के सन्मुख बना रहकर सुख की खोज के लिये ज्ञेयों में ही भटकता रहता है और आकुलित रहता हुआ दुखी बना रहता है। वास्तव में तो यह सब ज्ञान के जानने की प्रक्रिया का ही विस्तार है। लेकिन अज्ञानी को ऐसा विश्वास ही नहीं है। अज्ञानी की इसप्रकार की विपरीत मान्यता सुख की खोज के लिये विपरीतता का प्रदर्शन ही है। जिस ज्ञान के उपयोग को अपने में सिमटने से, आत्मा का अनाकुलता रूपी सुख की प्राप्ति हो सकती थी, वह ही उपयोग विपरीत मान्यता के कारण,

आकुलतारूपी दुःख की उत्पत्ति करने में लग रहा है। वास्तव में इसप्रकार ज्ञान का दुरुपयोग ही दुःख की उत्पत्ति का मूल कारण बन जाता है। इस विपरीत मान्यता का सिद्ध परमेष्ठी में अभाव हो जाने से, उनके ज्ञान का सदुपयोग होकर परम निराकुल आनन्द की अनुभूति में मग्न हो जाता है।

अनन्तवीर्य की विपरीतता

अब चौथा चतुष्टय अनन्तवीर्य बाकी रहा। अतः उसको भी इसी प्रकार समझना है। यहाँ वीर्य का अर्थ शारीरिक शक्ति के बलाधार वीर्य की बात नहीं है। यहाँ तो आत्मा की निज शक्ति सामर्थ्य को वीर्य कहा है। यहाँ वीर्य से अर्थ है, आत्मा के ज्ञान का पूर्ण विकास रूपी कार्य करने की सामर्थ्य, आत्मवीर्य-आत्मशक्ति का द्योतक है। हमारे अनुभव में भी है कि हर एक आत्मा अपने संकल्पों की पूर्ति करने के लिये अपने अन्दर ही अन्दर विचारों में संलग्न रहते हुए अपनी आत्मशक्ति का दुरुपयोग करता रहता है। लेकिन उसके विपरीत सिद्ध परमात्मा अपने आत्मा की अनन्त शक्तियों की सामर्थ्य का उपयोग, आनन्द की अनुभूति में निरन्तर गर्क रहने के लिए करते रहते हैं। आत्मा में ज्ञान भी एक शक्ति है और ज्ञेय भी लोकालोक के सभी पदार्थ हैं। ज्ञेयों का स्वरूप अनेकांतात्मक होने से ज्ञान में ये ज्ञात होते हुए भी उनकी ज्ञान में नास्ति है और ज्ञेयो में ज्ञान की नास्ति है। इसप्रकार समस्त ज्ञेयों को जानते रहकर भी सिद्ध भगवान किंचित मात्र भी आकुलित नहीं होते हुए, अपनी आनन्द की अनुभूति में गर्क बने रहने में महान सामर्थ्यरूप अनंतवीर्य का उपयोग करते रहते हैं। जानने के लिए कुछ भी बाकी रहा नहीं अतः नहीं जाने हुए को जानने की इच्छा का भी अवकाश रहा नहीं एवं अनेकांतात्मक वस्तु स्वभाव द्वारा हर एक द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों में स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन करता हुआ भी, किसी अन्य से कोई संबंध रखता नहीं, ऐसा

वस्तु स्वभाव ज्ञात होनेसे किसी के प्रति राग द्वेष उत्पन्न होने का भी अवकाश नहीं रहता, ऐसे निराकुल आनंद के उपभोग में रत रहने से अपने आत्मवीर्य का उपयोग करते रहते हैं, ऐसे अनंतवीर्य के भोक्ता सिद्ध भगवान हैं।

इसप्रकार उपरोक्त अनन्त चतुष्टय रूपी आत्मा का स्वभाव जिनकी पर्याय में प्रगट हो गया है वही उस आत्मा का वास्तविक स्वभाव है। पर्याय में उपरोक्त स्वभाव की प्रगटता ही इस महान सिद्धान्त को सिद्ध करती है, कि अगर द्रव्य में ही यह स्वभाव विद्यमान नहीं होता तो पर्याय में कहाँ से आ सकता था। जैसे कुए में पानी का अभाव होने पर लोटे में पानी कहाँ से आ सकता है। अतः भगवान की प्रगट पर्याय की यथार्थ समझ के माध्यम से मुझे मेरे स्वभाव का विश्वास-श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए भी मेरे स्वभाव की श्रद्धा करने के लिये सिद्ध भगवान आदर्श हैं।

भगवान सिद्ध की ज्ञान पर्याय

स्व-पर प्रकाशक एवं अनेकांत स्वभावी है।

ज्ञान एक आत्मा का असाधारण गुण है-लक्षण है, आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला एक महान सिद्धान्त है। ज्ञान से ही आत्मा पहिचाना जाता है। जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ ही आत्मा माना जाता है क्योंकि दोनों में व्याप्ति है। इसप्रकार ज्ञान की ही अगाध महिमा है।

ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशी है, वह स्वयं को भी जानता है और साथ ही पर को भी जानता है, ऐसा ही जिनवाणी भी बताती है और हमारे अनुभव से भी सिद्ध होता है। मेरी आत्मा अपने आपके अस्तित्व को जानते हुए. पर के अस्तित्व को भी जानती है, यह विश्वास

में भी आता है। ज्ञान और आत्मा अभेद होने से, आत्मा को भी स्व-पर प्रकाशक स्वभावी कहा गया है।

नियमसार गाथा १५९ की टीका के अन्त में कहा है कि -"सहजज्ञान स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इसप्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्तगुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिये ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरक्त अन्य सब-दर्शन, सुख आदि-पर हैंइसलिये इस अपेक्षा के लिए सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।"

अब प्रश्न होता है कि ज्ञान का विषय स्व-पर में विभाजित होने से, ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता है अथवा ज्ञान की सामर्थ्य ही स्व-पर प्रकाशक होने के कारण, स्व-पर को जानता है?

समाधान :— अगर दोनों में ही अपने-अपने कारण से स्व-पर प्रकाशकता नहीं हो तो दोनों ही द्रव्य पराधीन हो जावेंगे, निमित्त एवं उपादान दोनों स्वतंत्र परिणमते हुए, दोनों ही अपनी-अपनी शक्ति सामर्थ्य द्वारा परिणमते हैं। जीव तो स्व-पर प्रकाशकता स्वभावरूप एवं ज्ञेय भी प्रमेयत्व स्वभावरूप परिणमते हैं। दोनों में मात्र समकाल प्रत्यासक्ति है। इसलिये दोनों वस्तु के स्वभावों को विस्तार से समझने से ही, ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता समझ में आ सकती है।

इस विषय को समझने के लिये सर्वप्रथम विश्व की समस्त वस्तुओं के सामान्य स्वभाव को समझना चाहिये, जिसमें ज्ञान का धारक आत्मा भी सम्मिलित है।

वस्तुमात्र का सामान्य स्वभाव, "अनेकांत"

जिनवाणी का कथन है कि हर एक वस्तु का अस्तित्व ही अनन्त

धर्मात्मक है, कोई भी वस्तु ऐसी होती ही नहीं जिसमें अनंत स्वभाव विद्यमान नहीं हों। इसलिए प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों का अभेद अखंड पिंड है। ऐसी वस्तु एवं उसका परिणमन अनेकांत स्वभावी ही होता है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। अनेकांत का अर्थ है, अनेक स्वभाव होते हुए भी एक स्वभाव में दूसरे स्वभाव का नास्तिरूप परिणमन होना। अनेकांत का स्वरूप आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने समयसार के परिशिष्ट में बताया है :

"एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनकान्त है।"

उपरोक्त परिभाषा को आचार्यश्री ने वस्तु में बसे हुए परस्पर विरोधी अनन्त स्वभावों को अस्ति-नास्तिपूर्वक १४ बोलों के माध्यम से सिद्ध किया है कि प्रत्येक समय वस्तु में परस्पर विरोधी स्वभाव परिणमन करते रहने से ही वस्तु का वस्तुत्व टिका रहता है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इसकी विशेष चर्चा ग्रंथराज समयसार से जाननी चाहिये।

आत्मवस्तु अनेकान्त स्वभावी

जब वस्तुओं का स्वभाव ही अनेकांतात्मक है तो विश्व की समस्त वस्तुऐं अर्थात् अनंतानन्त सभी द्रव्य अनेकान्त स्वभावी ही सिद्ध हो गये। अनेकान्त का प्रयोग वस्तु के अस्तिव को सिद्ध करने के लिए ही है। तथा ऐसी वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए जो पद्धति अपनाई गई उसी का नाम स्याद्वाद है, समयसार के परिशिष्ट के प्रारम्भ में ही आचार्य कहते हैं कि :—

"अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला, अर्हत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित निर्बाध शासन है। वह स्याद्वाद "सब

अनेकान्तात्मक है" इसप्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली है। "सर्व वस्तुएँ अनेकांत स्वरूप हैं" इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है।"

जैसे विश्व के एक अंश अर्थात एक वस्तु में विश्व की सकल वस्तुओं की नास्ति है और सुकल वस्तुओं में एक की नास्ति है तब तो विश्व, विश्वरूप रहेगा और विश्व का अंशरूप वस्तु का अस्तित्व भी सिद्ध होगा।

इसीप्रकार मेरा आत्मा जो अपने आपका अस्तित्व रखता है। उसमें विश्व के सभी द्रव्यों की तथा अन्य आत्माओं की नास्ति हो, तब तो मेरा अस्तित्व बना रह सकेगा। इसप्रकार से मेरे आत्मा का अनेकान्त स्वभाव नहीं होता तो मेरा आत्मा तो सबमें मिल जाता और अपना अस्तित्व ही खो देता। इसप्रकार अनेकांतस्वभाव वस्तु का अस्तित्व सुरक्षित रखता है। इस ही के आधार से आचार्य श्री ने उपरोक्त परिशिष्ट में परके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में, स्व आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की नास्ति है और उन सबकी अपने-अपने चतुष्टय में अस्ति है लेकिन पर जितने भी हों उन सबकी अपने-अपने स्वचतुष्टय में अस्ति होते हुए भी मेरे स्व-चतुष्टय में तो नास्ति ही है। इसप्रकार मेरे को मेरेपने की श्रद्धा के लिये तो, मैं अकेला ही श्रद्धेय रह गया तब पर जो भी जितना भी है उन सबकी मेरे में नास्ति है, अत: उन सबसे ममत्व करने का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता? फलत: ऐसी श्रद्धा ही वीतरागता की उत्पादक बन जाती है।

परिशिष्ट के प्रारंभ का उक्त कथन इसप्रकार है :—

"यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता के उपदेश करने पर स्याद्वाद का कोप नहीं है, क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव

अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि, जो वस्तु तत् है वही अतत् है एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है— इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। इसलिये अपनी आत्मवस्तु को भी, ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्व-असत्व और नित्यत्व-अनित्यत्वपना प्रकाशता ही है, क्योंकि उसके ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के अंतरंग में चकचकित प्रकाशते ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते, अनन्त ज्ञेयत्व को प्राप्त, स्वरूप से भिन्न ऐसे पर रूप के द्वारा (ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उस-रूप नहीं है,) सह भूत (साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमश: प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य अंशों के समुदाय रूप अविभाग द्रव्य के द्वारा एकत्व है और अविभाग एक द्रव्य में व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमश: प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप (चैतन्य के अनन्त अंशोंरूप) पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्व है, और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-कालभावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा असत्व है, अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा नित्यत्व है, और क्रमश: प्रवर्तमान, एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति अंशोरूप के परिणतपने द्वारा अनित्यत्व है। (इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो-दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयंमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिये अनेकान्त स्वयंमेव प्रकाशित होता है।)"

इसप्रकार आत्मा एक गुणी है, उसमें अनन्त गुणों का अस्तित्व है तथा गुणी का भी अपना अस्तित्व है। लेकिन गुणी में गुणों की नास्ति

है और गुणों में भी गुणी की नास्ति है। इस ही आधार पर मेरी श्रद्धा का विषय अभेद अखण्ड आत्मा रह सकेगा, अन्यथा एकता में अनेकता की और अनेकता में एकता की अस्ति मानने से तो मेरी श्रद्धा के लिये कोई विषय ही नहीं रहेगा। फलतः गुणी ऐसे आत्मा में गुणों की नास्ति मानने से ही अभेद अखंड आत्मा ही मेरी श्रद्धा का श्रद्धेय रहेगा और उससे ही वीतरागता की उत्पत्ति हो सकेगी।

इसीप्रकार त्रिकाली सत्ताधारी द्रव्य में एक समयवर्ती पर्याय की नास्ति है और पर्याय में उक्त द्रव्य की नास्ति है। ऐसा स्वीकार करने से द्रव्य एवं पर्याय दोनों का अस्तित्व सुरक्षित रहता है, अन्यथा दोनों का ही अभाव हो जावेगा, लेकिन मेरी श्रद्धा का श्रद्धेय तो मात्र त्रिकाली सत्ताधारी द्रव्य ही रहता है। जिसके आश्रय से एक समय की सत्ताधारी पर्याय में मेरा अनादिकाल से चला आ रहा अहंपना समाप्त होकर, त्रिकाली ज्ञायक भाव में ही अहंपना स्थापन होकर, वह ही श्रद्धा का श्रद्धेय रह जाता है इसी को समयसार में शुद्धनय का विषयभूत आत्मा कहा है।

इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञायक संबंध के विषय में भी समझना चाहिए। लेकिन उपरोक्त तीनों विषयों से ज्ञेय-ज्ञायक संबंध की स्थिति कुछ भिन्न पड़ती है। वह निम्नप्रकार है :—

सबसे पहला विषय, स्वद्रव्य में परद्रव्य की नास्ति का है तो इसमें तो दोनों द्रव्यों का अपने-अपने में अस्तित्व रहते हुए भी परस्पर अभाव सिद्ध करना है। दूसरे विषय में आत्मा के ही अनन्तगुण आत्मा में ही अभेदरूप से विद्यमान रहते हुए भी गुणी और गुण में परस्पर नास्तित्व सिद्ध करना है। तीसरे में द्रव्य और पर्याय का एक ही द्रव्य में अभिन्न अस्तित्व होते हुए भी दोनों की नित्य-अनित्यात्मक सत्ता स्वतंत्र पूर्वक भिन्न-भिन्न रहती है उनकी आपस में अस्ति नास्तिपूर्वक स्वतंत्र अस्तित्व

सिद्ध करना है। लेकिन ज्ञेय से ज्ञान की भिन्नता सिद्ध करने के लिये इसकी उपरोक्त तीनों से भिन्न ही स्थिति है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का एक गुण है और ज्ञेय तो पर है एवं ज्ञान में आते नहीं, अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयों का अस्तित्व तो होता नहीं, फिर भी दोनों एक हो गये जैसे लगने लगते हैं। अतः उनमें परस्पर नास्तित्व सिद्ध करने की पद्धति उपरोक्त से भिन्न प्रकार की होनी चाहिए। इसलिए ज्ञान और ज्ञेयों में परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के पूर्व, ज्ञेयों को जानने वाले ज्ञान की स्थिति क्या है, यह समझना है।

अनेकान्त स्वभावी ज्ञान की ज्ञेयों को जानने की स्थिति

अनेकान्त स्वभावी क्षयोपशम ज्ञान, हर समय हर एक पर्याय में "लब्ध और उपयोग" दो रूप में वर्तता है। इस ज्ञान की इतनी निर्बलता है कि प्रगट पर्याय की जितनी भी सामर्थ्य प्रगट हुई है, यह पूर्ण सामर्थ्य भी एक साथ कार्य करने में असमर्थ रहती है। अतः उसकी जितनी सामर्थ्य कार्यरूप परिणमती है, उसको ही "उपयोग" कहा गया है एवं बाकी सामर्थ्य प्रगट पर्याय में विद्यमान रहते हुए भी कार्यरूप नहीं परिणमती उसको "लब्ध" कहा गया है। आगम में "ज्ञान के व्यापार को उपयोग" कहा गया है। इसप्रकार अनेकान्त स्वभावी प्रगट ज्ञानपर्याय की स्थिति है।

मोक्षशास्त्र की श्री रामजीभाई माणकचंद जी दोशी की अध्याय २ के सूत्र १८ की टीका में निम्नप्रकार कहा है :—

(१) ***लब्धि :—*** लब्धिका अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्मा के चैतन्य गुण का क्षयोपशमहेतुक विकास लब्धि है।

उपयोग :— चैतन्य के व्यापार को उपयोग कहते हैं। आत्मा के चैतन्य गुण का जो क्षयोपशमहेतुक विकास है उसके व्यापार को उपयोग

कहते हैं।

(२) आत्मा ज्ञेय पदार्थ के सन्मुख होकर अपने चैतन्य व्यापार को उस ओर जोड़े अर्थात् लगावें सो उपयोग है। उपयोग चैतन्य का परिणमन है। वह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थ की ओर लग रहा हो तो, आत्मा की सुनने की शक्ति होने पर भी सुनता नहीं है। लब्धि और उपयोग दोनों के मिलने से ज्ञान की सिद्धि होती है।"

इसी सूत्र के सिद्धान्त में भी स्पष्ट किया है — "जीव को छद्मस्थ दशा में ज्ञान का विकास अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि बहुत कुछ हो तथापि उस सम्पूर्ण विकास का उपयोग एक साथ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये राग में अटक जाता है, इसलिये ज्ञान का लब्धिरूप विकास बहुत कुछ हो फिर भी व्यापार उपयोग अल्प ही होता है। ज्ञान गुण तो प्रत्येक जीव में परिपूर्ण है, विकारी दशा में उसकी ज्ञानगुण की पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं होती, इतना ही नहीं किन्तु पर्याय में जितना विकास होता है उतना भी व्यापार एक साथ नहीं कर सकता।"

अनेकान्त स्वभावी ज्ञान का परिणमन, स्व-पर प्रकाशक होने के कारण, उसकी हर एक पर्याय भी स्व-पर प्रकाशक ही होती है। इतना अवश्य है कि सम्यग्ज्ञानी को स्व के उपयोगात्मक ज्ञान वर्तने के समय, पर सम्बन्धी ज्ञान लब्ध में रहता है और पर के उपयोगात्मक ज्ञान वर्तन के समय स्व का ज्ञान लब्ध में रह जाता है। लेकिन अज्ञानी का ज्ञान तो अनादिकाल से अकेला पर सन्मुख ही वर्तता रहा है। उसे लब्ध में स्व का ज्ञान है ही नही, अतः इसप्रकार ज्ञान के व्यापार की स्थिति है। इस प्रकार अनेकान्तात्मक ज्ञान के कार्य में ज्ञान का उपयोगात्मक परिणमन ही आत्मा के संसार मार्ग एवं मोक्षमार्ग को साधता है। इस उपयोग का स्व में प्रवर्तन मोक्षमार्ग का साधक होता है एवं पर में प्रवर्तन संसार

मार्ग का ही पोषण करता है। नियमसार श्लोक २८६ एवं गाथा १७१ की टीका में इसी विषय का समर्थन निम्नप्रकार किया है :—

"ज्ञान तो बराबर शुद्ध जीव का स्वरूप है, इसलिये (हमारा) निज आत्मा अभी (साधक दशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय) से जानता है और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा प्रत्यक्षरूप आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा" ॥२८६॥

"हे शिष्य ! सर्व परद्रव्य से परांमुख आत्मा को तू निज स्वरूप को जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप जान, तथा ज्ञान आत्मा है ऐसा जान। इसलिये तत्व (स्वरूप)ऐसा है कि ज्ञान तथा दर्शन दोनों स्वपरप्रकाशक हैं इसमें सन्देह नहीं है" ॥ ३७१ ॥

वर्तमान प्रकरण में हमको संसार मार्गी को मोक्षमार्ग में लगने के उपायों पर ही चर्चा करनी है। अतः आत्मा के स्व उपयोगात्मक ज्ञान की स्थिति पर चर्चा नहीं करेंगे अर्थात् ज्ञानी के निर्विकल्प ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता किसप्रकार वर्तती है उस पर चर्चा नहीं करेंगे वरन् अज्ञानी का ज्ञान एकान्तरूप से पर में ही उपयोगात्मक वर्त रहा है, उसको उधर से व्यावृत करके, कैसे आत्मसन्मुख करना? इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को समझने की चेष्टा करेंगे।

अनेकान्त ज्ञान में ज्ञेयों की स्थिति

ज्ञान में ज्ञेय तो स्व एवं पर दोनों ही अनेकान्तपूर्वक ही होते हैं। अतः ज्ञेय संज्ञा तो स्व एवं पर दोनों को प्राप्त है। क्योंकि जिन द्रव्यों में प्रमेयत्व गुण है वे सभी तो ज्ञान के विषय बन सकते हैं और प्रमेयत्वगुण तो स्व एवं पर सभी में विद्यमान हैं अतः स्व एवं पर सभी को ज्ञेय संज्ञा प्राप्त होना ही चाहिये। लेकिन स्वआत्मा वास्तव में अनेकान्तात्मक स्व-पर

प्रकाशक स्वभावी होते हुए भी अनादि से अज्ञानी आत्मा अपने उपयोग को परसन्मुख रखते हुए ही वर्त रहा है। अतः उसका ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होते हुए भी स्व संबंधी ज्ञान से वंचित चला आ रहा है। इसलिए उसका ज्ञान जब तक मन व इन्द्रियों का आलंबन छोड़कर एकबार स्व को उपयोगात्मक नहीं जान लेता, तब तक उसके ज्ञान को मोक्षमार्ग के प्रयोजन सिद्ध करने के लिए स्व-पर प्रकाशक नहीं माना जाता और न उसमें सम्यक् अनेकान्त का जन्म ही हुआ है। उस ज्ञान को एकान्त पर प्रकाशक एवं मिथ्या ही कहा गया है। क्योंकि उसका ज्ञान तो अनादिकाल से परलक्ष्यी ही चला आ रहा है। अतः वह तो उपयोगात्मक अकेला पर को ही जानेगा और उसका उपयोग भी परलक्ष्यी ही कार्य करता रहेगा, उसके ज्ञान में तो आत्मा आ ही कैसे सकेगा। इसी आशय को समयसार परिशिष्ट के पृष्ठ ५७३ पर निम्नप्रकार प्रगट किया है :—

"स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्वभावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृति के द्वारा दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं।) वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव-आत्मा, शेष (बाकी) के भावों के साथ निज रस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध के कारण और अनादिकाल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है,तब (उसे ज्ञानमात्र भाव का) स्व-रूप से (ज्ञानरूप) से तत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान रूप से ही है ऐसा प्रगट करके) ज्ञातारूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही (स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है - नाश नहीं होने देता।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव "वास्तव में यह सब आत्मा है" इसप्रकार अज्ञानतत्व को स्व-रूप से (ज्ञानरूप से) मानकर-अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगत को निजरूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत् से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है) तब उस ज्ञानमात्र भाव का पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नही हैं यह प्रगट करके)विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (ज्ञानमात्र भाव का) नाश नहीं करने देता।"

अब ज्ञान का कार्य समझने के लिए विचार किया जावे तो यह स्पष्टतया समझ में आता है कि ज्ञान जिसको भी जानेगा वो तो आत्मा से अलग भिन्न ही होगा तभी तो ज्ञान उसको जान सकेगा, अगर वह ज्ञान में ही प्रवेश कर जावेगा तो ज्ञान का ही अभाव हो जावेगा और अगर ज्ञान ज्ञेय को जानते समय ज्ञेय में प्रविष्ट हो जावे तो ज्ञान का ही अस्तित्व समाप्त हो जावेगा। इसलिये निःशंकतापूर्वक यह स्वीकार करने योग्य है कि न तो कभी ज्ञेय अपना स्व-क्षेत्र छोड़कर ज्ञान में प्रवेश करेगा और न कभी ज्ञान भी अपना स्व-क्षेत्र छोड़कर पर में प्रवेश करेगा। लेकिन दोनों एक दूसरे में प्रवेश किये बिना भी (भिन्न रहते हुए भी) ज्ञान का ऐसा अद्भुत आश्चर्यकारी स्वभाव है कि वह ज्ञेय को जान तो लेता ही है।

प्रश्न :— यहाँ प्रश्न होता है कि फिर जानने की प्रक्रिया ज्ञान में हो कैसे जाती है। इस प्रश्न के समाधान रूप चर्चा सुखी होने का उपाय भाग ४ के पृष्ठ ११२-११७ तक "आत्मा परज्ञेयों को कैसे जानता है" शीर्षक विषय में विस्तार से कर चुके हैं, पाठकगणों को वहाँ समझना चाहिए। उसमें समयसार एवं प्रवचनसार की गाथाओं के आधार से इस विषय को समझाया है। उसका निष्कर्ष यह है कि वास्तव में आत्मा,

अपनी ज्ञान पर्याय की तत्समय की योग्यता, जिस ज्ञेय को जानने की होती है, मात्र उस योग्यता को ही जानता है, अर्थात् आत्मा के ज्ञान की योग्यता के प्रदर्शन का परिचय कराया जाता है। इसी को आगम में ज्ञेयों का ज्ञान कहा जाता है। वास्तव में यह सब आत्मा की ज्ञान पर्याय का स्वयं का परिणमन है। इसप्रकार आत्मा, परज्ञेयों को जानता है, यह उपचाररूप व्यवहार कथन है। वास्तव में तो आत्मा अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता है, यही निश्चय कथन है। इसप्रकार ज्ञेयों की स्थिति है। जैसा कि उपरोक्त नियमसार के कथन से स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकपना तो स्वभाव है। जैसा कि नियमसार की उपरोक्त गाथाओं से भी स्पष्ट है। स्वभाव में निश्चय व्यवहार तथा उपचार-अनुपचार नहीं लगता। स्वभाव तो वस्तु का प्राण है। जो कथन उपादान की मुख्यता से होता है वह वास्तव में यथार्थ होता है, अतः उसको निश्चय कहा जाता है और उसी समय जो निमित्त होता है उसकी मुख्यता से उपादान के कार्य का भी निमित्त के द्वारा परिचय कराया जाता है, जो यथार्थ नहीं होने पर भी दोनों की समकाल प्रत्यासक्ति होने से उसप्रकार के कथन को व्यवहार कहा जाता है। जो कार्य सम्पन्न हुआ है उसका परिचय दोनों कथनों के बिना हो ही नहीं पाता, इसलिये आगम में, दोनों प्रकार से वस्तु को समझाने की पद्धति है।

प्रश्न :— तब ज्ञेय किसको माना जावे ? आपके कथन से तो ऐसा लगता है कि आत्मा पर पदार्थों को जानता ही नहीं है। लेकिन यह बात हमारे अनुभव से एवं आगम से विपरीत लगती है ?

समाधान :— उक्त कथन में ऐसा कहाँ आता है कि पर को जानता ही नहीं है ; जानता तो अवश्य है। जिस समय ज्ञान अपनी पर्यायगत योग्यता को जानता है, उसी समय तो निमित्तरूप परज्ञेय निमित्त

होता है। वह निमित्त पदार्थ ही तो ज्ञेय कहा जाता है। अतः उपादान की मुख्यता से भी पर पदार्थों के आकारों को जानता है, यही तो सिद्ध हुआ। क्योंकि वह योग्यता परज्ञेयों के आकार ही तो है और निमित्त की प्रधानता से कहा जावे तो भी वे पर पदार्थ हैं ही। अतः कथन में तो पर पदार्थों का ज्ञान हुआ ऐसा ही कहा जावेगा और उनको ज्ञेय अवश्य कहा जावेगा। लेकिन हमको वीतरागतारूपी प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अर्थात् रागादि उत्पादन का मूल कारण ऐसी निमित्ताधीन दृष्टि छोड़ने के लिए ज्ञेयों के ज्ञान के कथनों का निश्चय- व्यवहाररूप समझना, अत्यन्त आवश्यक है।

ज्ञेयों को जानने में अनेकान्त की स्थिति

अनेकान्त तो वस्तु का स्वभाव है। वस्तु अर्थात् आत्मा, जब आत्मा ही अनेकांत स्वभावी है तो उसका हरएक अंश अर्थात् ज्ञान गुण भी अनेकान्त स्वभावी ही है और उस गुण की अंशरूप हर एक पर्याय भी अनेकान्त स्वभावी ही होनी चाहिए। अन्य प्रकार हो ही नहीं सकती। तात्पर्य यह है कि ज्ञान की प्रत्येक समय की पर्याय अनेकान्त स्वभावी ही होती है। वह पर्याय चाहे तो निगोदिया जीव की हो अथवा तो सिद्ध जीव की हो, सभी अनेकान्त स्वभावी ही होती हैं।

ऐसी अनेकान्त स्वभावी ज्ञान पर्याय जब भी प्रगट होती है तो अनेकान्तात्मक ही उत्पन्न होती है, ज्ञान का स्वभाव जानने का है तो वह स्व अर्थात् ज्ञान को अस्ति के रूप में तथा पर अर्थात् ज्ञेय को ज्ञान में नास्तिरूप ही जानती हुई उत्पन्न होती है यह तो अनेकान्त स्वभावी उस ज्ञान पर्याय का स्वभाव है। ज्ञेय भी अनेकान्त स्वभावी होने से वे भी ज्ञान के प्रकाशन में तो, जैसे हैं वैसे ही तो आवेंगे, अन्यथा उस ज्ञान को सम्यक् कैसे कहा जा सकेगा, अगर वह पर्याय, ज्ञान और ज्ञेय दोनों को एक ही समय अपने में अस्ति रूप जानेगी तो, न तो ज्ञान ही रहेगा और न ज्ञेय ही रहेगा। अतः ज्ञान पर्याय का अनेकान्तात्मक प्रगट होना ही

आगम, तर्क अनुमान एवं अनुभव सम्मत सिद्ध होता है और ऐसा जानने वाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान एवं वैसा ही श्रद्धान, सम्यकदर्शन सिद्ध होता है। जैसा कि समयसार परिशिष्ट के पृष्ठ ६५० पर तत्-अतत् के बोलों के उपरोक्त स्पष्टीकरण में आचार्य श्री ने कहा है—

भगवान सिद्ध की पर्याय अनेकान्त स्वभावी कैसे ?

भगवान सिद्ध की ज्ञान पर्याय का जैसा परिणमन हो रहा है, वैसा ही अपने आत्मा के ज्ञान का स्वभाव स्वीकार करना, सम्यग्श्रद्धा है और वैसा ही ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ; ऐसा आगम का वचन है। अत: हमको उपरोक्त कथन को, भगवान सिद्ध के ज्ञान की पर्याय अर्थात् केवलज्ञान की पर्याय से समझना चाहिए।

आगम का कथन है कि अरहंत-सिद्ध का ज्ञान तो स्व एवं पर समस्त द्रव्यों को, उसकी भूत, भावी, वर्तमान पर्यायों सहित, एक समय में सम्पूर्ण रूप से जानता है, इसही से उनको सर्वज्ञ कहा जाता है। जैसा कि नियमसार गाथा १५९ में कहा है :—

"(व्यवहारनयेन्) व्यवहारनय से (केवली भगवान) केवली भगवान (सर्व) सब (जानाति पश्यति) जानते हैं और देखते हैं, (नियमेन) निश्चय से (केवलज्ञानी) केवलज्ञानी (आत्मानम्) आत्मा को (स्वयं को) (जानाति पश्चति) जानता है और देखता है॥ ५९ ॥"

इस कथन में किंचित् मात्र भी न्यूनाधिक मानना अथवा शंका करना, अगृहीत मिथ्यात्व का सूचक है। साथ ही यह भी आगम सिद्ध है कि उनकी वह पर्याय भी अनेकान्त स्वभावी है। अत: इसमें हमको अनेकान्त की स्थिति समझने योग्य है।

सिद्ध भगवान की उपरोक्त पर्याय भी अनेकान्तात्मक ही परिणमन करती है। अनेकान्त तो वस्तु का अर्थात् आत्मा एवं ज्ञान का स्वभाव है,

अत: सर्वज्ञ भगवान की हर एक पर्याय में स्वज्ञेय का ज्ञान अस्ति के रूप में एवं उस ही समय परज्ञेयों का ज्ञान नास्ति के रूप में ही वर्तता है। दोनों ही ज्ञेयों का ज्ञान अस्ति रूप हो तो स्व-पर का विभाग ही समाप्त हो जावेगा तथा दो की अस्ति होने से ज्ञप्ति परिवर्तन एवं राग का उत्पादन अवश्यंभावी हो जावेगा ? अत: ऐसा किसीप्रकार भी माने-जाने योग्य नहीं है।

अत: उनकी ज्ञान पर्याय भी अनेकातात्मक ही स्वीकार करने योग्य है।

प्रश्न :— उपरोक्त सिद्धान्त स्वीकार करने से प्रश्न खड़ा होता है जिसकी नास्ति ही है, उसका ज्ञान आत्मा को कैसे हो सकेगा? जिसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो आत्मा किसको जानेगा? इसप्रकार तो सर्वज्ञता स्वीकार करना ही संभव नहीं रहेगा ?

समाधान :— उपरोक्त शंका निर्मूल है, कारण केवली का ज्ञान, ज्ञेय पदार्थों की नास्ति नहीं कर देता। जिसप्रकार ज्ञान तत्व का अस्तित्व है, उसीप्रकार ज्ञेय तत्वों का भी अस्तित्व है। उन पदार्थों के अस्तित्व को तो आत्मा स्पर्श कर ही नहीं सकता। ज्ञान की पर्याय में ही समस्त कार्य, बिना समय भेद के, एक ही समय में, पर में कुछ भी छेड़छाड़ करे बिना अथवा गौण-मुख्य करे बिना ही, सहज रूप से स्वाभाविक तथा स्व एवं पर दोनों का ज्ञान एक साथ होता है। स्व को अस्तिरूप और पर को नास्ति रूप जानता रहता है। नास्ति रूप जानना क्या जानना नहीं होता? अवश्य होता है हम अपने मिथ्याज्ञान को ही समझें, तो इसमें भी अनेकसन्तता विद्यमान है। जैसे मेरे मकान के अस्तिरूप ज्ञान के समय साथ ही मुझे अन्य मकानों के बारे में नास्तिरूप ज्ञान सहज रूप से वर्तता ही है। अगर उसी समय मेरे मकान के अस्तिरूप ज्ञान में, पर के मकानों का भी अस्तिरूप ज्ञान हो जावे तो, मेरा प्रयोजन क्या सिद्ध होगा? मेरे

मकान में स्वपनेरूप श्रद्धा कैसे उत्पन्न होगी? इस दृष्टान्त के अनुसार तो स्व एवं पर का स्व में अस्तिरूप ज्ञान होने से मोक्षमार्ग के लिए भेद-विज्ञान के प्रयोजन का ही नाश हो जावेगा, यह तो महान हानि हो जायेगी। अतः निःशंकतापूर्वक यह स्वीकार करने योग्य है कि सिद्ध भगवान की ज्ञान पर्याय में भी स्व-संबंधी ज्ञान अस्ति के रूप में और पर संबंधी ज्ञान नास्ति के रूप में, एक ही समय वर्तता है। यही सर्वज्ञता का स्वरूप है और यही सम्यग्ज्ञान का स्वरूप है। पर की नास्ति करने के लिए विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वस्तु ही अनेकान्तात्मक है।

अनेकान्त और नय

प्रश्न होता है कि जब अनेकान्त द्वारा स्व में पर की नास्ति वर्तती ही है, तब भूतार्थ-अभूतार्थ द्वारा समझकर, नय ज्ञान द्वारा स्व को मुख्य करके पर को गौण करने का अर्थात् मुख्य-गौण करने का प्रयोजन ही नहीं रहता? अतः भेदज्ञान के लिए नय ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी ?

समाधान — ऐसा नहीं है। नयज्ञान, स्वभाव का अतिक्रांत करके नहीं वर्तता। अनेकान्त तो ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही है और नयज्ञान का प्रयोग तो मात्र उपयोग में विषय ग्रहण करने के लिए कार्यकारी है। अनादिकाल से, अज्ञानी जीव पर्यायमूढ़ होने से उसका उपयोग पर सन्मुख ही वर्तता चला आ रहा है, इसलिये पर्याय का ही कार्य उसे दीखता है। इसी समय द्रव्य भी उपस्थित है लेकिन वह उसे दीखता ही नहीं है। तो ऐसे जीव को पर्याय का स्वरूप समझकर उसे अभूतार्थ कहकर गौण करने का उपदेश दिया जाता है ताकि वह उस पर्याय को गौण करके देखे तो उसके उपयोग और श्रद्धा का विषय अपना द्रव्य बन जावे और अनादि का अज्ञान नाश हो जावे।

अनेकान्त तो ज्ञान का स्वभाव है और नय ज्ञान अपने उपयोग एवं श्रद्धा का विषय परिवर्तन करने के लिए कार्यकारी है। अतः दोनों में कोई प्रकार का टकराव नहीं है, सामंजस्य है। नय ज्ञान द्वारा पर्याय को गौण करके ज्ञान का जो विषय बनेगा, वह द्रव्य अनेकान्त स्वभावी ही है। पर संबंधी ज्ञान को श्रद्धा एवं नास्तिरूप विषय बनाने पर उसमें स्व-पर के द्वैत का अभाव है। ऐसा अद्वैतज्ञान श्रद्धा एवं उपयोग का विषय बनने से, वह उपयोग स्वयं निर्विकल्प परिणम सकेगा। अगर इस उपयोग का विषय, स्व एवं पर दोनों का द्वैत रूप ज्ञान होगा तो वह उपयोग निर्विकल्प कैसे रह सकेगा? नहीं रह सकेगा।

अनेकान्त स्वभावी ज्ञान मानने का फल

सम्यक् एकान्त की उपलब्धि

उपरोक्त प्रकार से जब ज्ञान की प्रगटता ही अनेकान्तात्मक होती है, तब उसमें द्वैत अर्थात् दोपनें का अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसे उत्पादन में उस ज्ञान का विषय स्वज्ञेय के अतिरिक्त अन्य को अस्तिरूप जानेगा भी कहाँ से? अर्थात् उस ज्ञान का ज्ञेय भी आत्मा स्वयं ही रहा तथा जानने वाला भी स्वयं ही रहा और ज्ञान तो वह स्वयं है ही, अतः ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद का भी अवकाश समाप्त हो जाता है। ज्ञान की ऐसी अवस्था को ही "सम्यक् एकान्त" कहा गया है। श्रीमद् राजचंद्र पुस्तक के पृष्ठ ३८२ पर निम्नप्रकार कहा भी है :—

"अनेकान्तिमार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त, दूसरे अन्य हेतु के लिए उपकारी नहीं है।"

अनेकान्त में दो वस्तु स्व एवं पर ज्ञान के समक्ष होती है, उनको अनेकान्त के आधार से स्व में पर की नास्ति करके, मात्र अकेला स्व ही स्व के रूप में रह जाना, यही सम्यक् एकान्त है। क्योंकि जब तक ज्ञान

के समक्ष स्व एवं पर दोनों रहेंगे ज्ञप्ति परिवर्तन अवश्यंभावी रहने से राग का उत्पादन भी अवश्य हुए बिना रह ही नहीं सकता। अतः अनेकान्त के यथार्थ ज्ञान द्वारा मात्र एक स्व ही रह जावे, तब ही वीतरागता प्रगट हो सकती है। इसीलिये श्रीमद् ने कहा है कि अनेकान्त मार्ग, सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति कराने के लिये उपयोगी है। इसप्रकार सम्यक् एकान्त के द्वारा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूपी भेदों का ही अभाव होकर मात्र एक अभेद स्व ऐसा त्रिकाली ज्ञायक भाव ही अनुभूति में "अहम्" के रूप में रह जाता है। इसी समय आत्मा को निर्विकल्प आत्मानुभूति रूप निजानन्द की प्राप्ति हो जाती है, सम्यक् एकान्त व सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। अनादि संसार का विच्छेद हो जाता है, समयसार के परिशिष्ट के कलश २६५ के अर्थ में कहा है :—

"ऐसी (अनेकान्तात्मक)वस्तु तत्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत, अनेकान्त के साथ मेल वाली) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, जिननीति का (जिनेश्वरदेव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए सत्पुरुष ज्ञान स्वरूप होते हैं।"

उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह है कि अनेकान्त दृष्टि से सम्यक् एकान्त को प्राप्तकर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद निरस्त कर अभेद आत्मा के आश्रय से स्वानुभव प्राप्त करते हैं। इस ही विषय को दृढ़ करते हुए, उपरोक्त कलश के अंत में आचार्य कहते हैं :—

"अब इसके ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के उपाय-उपेय साधक-साध्य विचारा जाता है अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है फिर भी उसमें उपायता और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया जाता है—

उपरोक्त विषय को सिद्ध करते हुए कलश २६६ व २७० के अर्थ में आचार्य कहते हैं :—

"जो पुरुष, किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ, ज्ञानमात्र निजभावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चय भूमिका का) आश्रय लेते हैं, वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु जो मूढ़ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं, वे इस भूमिका को प्राप्त न करके संसार में परिभ्रमण करते हैं।

अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदाय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्ड रूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है, इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को निराकृत नहीं किया गया है तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शांत है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है, ऐसा अत्यन्त शांत भावमय है)और अचल है (अर्थात्-कर्मोदय से चलाया नहीं चलता) ऐसा चैतन्य मात्र तेज मैं हूँ।"

उपरोक्त दोनों कलशों के अर्थ में आचार्य ने यह बात स्पष्ट की है कि आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने का एकमात्र उपरोक्त मार्ग ही है। इस ही का समर्थन करते हुए आचार्यश्री कलश २७१ के द्वारा कहते हैं, उसका भावार्थ निम्न है —

"ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्नप्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते, ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है। परन्तु वे ज्ञान की ही तंरगें है, वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है, और स्वयं ही अपना जानने वाला होने से ज्ञानमात्र

भाव ही ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता- इन तीनों भावों से युक्त सामान्य विशेषस्वरूप वस्तु है। "ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ"। इसप्रकार अनुभव करने वाला पुरुष अनुभव करता है।"

यथार्थ समझ से ही आत्मोपलब्धि योग्य रुचि की उत्पत्ति

यथार्थ समझ से रुचि परिवर्तन अवश्यम्भावी

प्रश्न :— उपरोक्त प्रकार से समस्त प्रकरण समझ लेने से यह बात बराबर समझ में आती है तथा विश्वास भी उत्पन्न हो जाता है कि ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय की अभेद परिणति हुए बिना आत्मा का अनुभव सम्भव नहीं है। लेकिन ऐसा निर्णय कर लेने पर भी आत्मानुभूति तो नहीं होती; उसका कारण क्या?

समाधान :— उपरोक्त प्रकार के निर्णय को यथार्थ निर्णय तभी कहा जा सकता है, जबकि उक्त निर्णय के साथ-साथ रुचि का परिवर्तन भी हो। यथार्थ रुचि के बिना आत्मा की परिणति, जो कि अभी तक परमुखापेक्षी चली आ रही है, उसका आत्माभिमुख होने का प्रारम्भ ही नहीं होता, परिणति आत्माभिमुख हुए बिना उपयोग भी आत्मसन्मुख नहीं होगा । ऐसी स्थिति में आत्मानुभव होना सम्भव ही नहीं हो सकता अत: यथार्थ रुचि उत्पन्न करने के लिए, उपरोक्त निर्णय करना तो आवश्यक है ही। लेकिन अगर उपरोक्त कथन समझ लेने पर भी सिद्ध भगवान बनने की रुचि ही जाग्रत नहीं हुई तो उस समझ का लाभ ही क्या हुआ? मोक्षमार्ग को समझना तो सिद्ध दशा प्राप्त करने के लिये ही होता है। उपरोक्त वस्तु स्वरूप समझकर तथा सिद्ध दशा प्राप्त करने का मार्ग समझ में आ जाने पर तो, अंदर हृदय में उस मार्ग का अनुसरण करके उस रूप बन जाने की तीव्र उत्कंठा अवश्य उत्पन्न हो जानी चाहिये।

जैसे किसी को, किसी आवश्यक कार्य हेतु किसी स्थान विशेष पर शीघ्र पहुँचना अत्यन्त आवश्यक हो लेकिन उसको गंतव्य स्थान पर पहुँचने का मार्ग ही ज्ञात नहीं हो तो वह व्यक्ति सर्वप्रथम उसका मार्ग खोजने की व्यग्रता से चेष्टा करेगा और जब किसी भी प्रकार से उसे वह मार्ग समझ में आ जावे तो, क्या उस समझ लेने मात्र से संतोष कर सकता है? संतोष तो करेगा ही नहीं वरन् उस मार्ग पर निःशंक रूप से चलकर, गन्तव्य स्थान अवश्य प्राप्त हो जावेगा, ऐसा विश्वास करके तीव्रगति से चल देने की चेष्टा में संलग्न हो जावेगा। समझ में आ जाने के बाद तो उसको इतना हर्ष होगा कि अब तो उसको एक क्षण का विलम्ब भी असह्य लगने लगेगा। उसीप्रकार आत्मार्थी भव्य प्राणी को जब प्रथम ही सद्गुरु के उपदेश द्वारा संसार परिभ्रमण के अभाव करने की भावना जाग्रत होती है तब, उसके हृदय में ऐसे भाव सहज ही उत्पन्न होते हैं कि "अहो मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं तो भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही मैं तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है तथा यहाँ मुझे सर्वनिमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिये, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है।"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५७)

इसप्रकार के भाव जिसके हृदय में जाग्रत हुए हों, वह उस मार्ग को समझने के लिए पूर्ण निष्ठा एवं तत्परता से जिनवाणी के अध्ययन, सत्समागम आदि में संलग्न हो जाता है। फलस्वरूप अपरिचित मार्ग स्पष्ट होकर समझ में आ जाने पर, भी उसकी रुचि उग्र नहीं हो, ऐसा संभव ही नहीं हो सकता। उसकी रुचि तो उस मार्ग पर चलकर अपना ध्येय प्राप्त करने की कितनी उग्र हो जावेगी, यह तो हम उपरोक्त दृष्टान्त के माध्यम से अनुमान लगा ही सकते हैं। ऐसे आत्मार्थी को तो अब

एक क्षण भी निरर्थक खोना सहन नहीं होता, उसको तो सहज रूप से ऐसे भाव उत्पन्न हो जाते हैं कि :—

काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग।

तथा

कषाय की उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
भवे खेद प्राणीदया, वहाँ आत्मार्थ निवास ॥

— श्री मद्राजचंद्र

(यहाँ प्राणी का अर्थ स्वआत्मा तथा परआत्मा दोनों समझना चाहिए)

उपरोक्त तीव्र रुचि वाले जीव ने जो मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग समझा है तथा उस पर खूब चिन्तन, मनन, चर्चा वार्ता द्वारा तथा आगम में बतायी हुई पद्धति, शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ के माध्यम से समझकर परीक्षा करके भावार्थ समझा है। वह आत्मार्थी सर्वप्रथम उक्त मार्ग की सत्यता के प्रति, पूर्ण विश्वस्त होकर निःशंक हो जाता है। उक्त प्रकार की परीक्षापूर्वक समझे गये मार्ग पर जब अटूट श्रद्धा हो जाती है। तब उस आत्मार्थी की रुचि आत्मा को प्राप्त करने के लिए और भी उग्र हो जाती है। जैसे आबालगोपाल सभी को अनुभव है कि जब किसी भी व्यक्ति को अपने कार्य में थोड़ी भी सफलता प्राप्त हो जाती है, तो उसको उस कार्य को शीघ्र से शीघ्र सम्पन्न करने की रुचि और भी तीव्र हो जाती है। उसीप्रकार पूर्व में मार्ग समझने के लिये आत्मार्थी की बुद्धि अनेक ग्रंथों के अध्ययन आदि में भटकती फिरती थी और भटकने पर भी यह समझ में नहीं आता था कि किस मार्ग के अपनाने से आत्मलाभ होगा। अब जब यह भटकन समाप्त होकर यथार्थ मार्ग प्राप्त हो जाता है तो उसको अपार हर्ष होता है और स्वाभाविक रूप से उसकी आत्मलाभ करने की रुचि का वेग और भी उग्र हो जाता है। फलतः उसकी पूर्व रुचि

के विषय अत्यन्त गौण होकर, एकमात्र आत्मा को प्राप्तकरने की रुचि सर्वोपरि प्रवर्तने लगती है। अर्थात् ऐसे आत्मार्थी की, पूर्व दशा में जो रुचि, संसार देह-भोगों के प्रति दौड़-दौड़कर जाती थी, वह अब उस ओर से विमुख होकर आत्मसाधना के मार्ग को सफल बनाने की ओर अग्रसर हो जाती है। इसप्रकार आत्मार्थी का जीवन सहज रूप से ज्ञान के साथ-साथ वैराग्यमय हो जाता है। ज्ञानी को इस प्रकार की अन्तर्स्थिति सहजरूप से वर्तती रहती है, वह बनाने से नहीं बनती तथा दूसरों को प्रदर्शन करने अथवा जानकारी कराने की भी ज्ञानी को किंचित्मात्र भी अपेक्षा नहीं रहती वरन् उपेक्षा वर्तने लगती है। उसकी रुचि का केन्द्रीय- करण तो एक मात्र आत्मसाधना बन जाता है और उसी को सफल करने के लिए ही निरन्तर प्रयासरत रहता है। फलस्वरूप श्रावक के षट्कर्म - देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान आदि के भाव तो सहज रूप से वर्तन लगते हैं। क्योंकि ज्ञानी तो अपने उपयोग को आत्मसाधना के सहकारीकरणों में ही उलझाये रखना चाहता है, ताकि आत्मा की रुचि को प्रोत्साहन मिलता रहे, अन्यथा वह रुचि मंद अर्थात् ढीली पड़ जाने से, उसका अभाव होकर संसार-देह-भोगों के प्रति आकर्षित होने की संभावना का भय बना रहता है।

इसप्रकार की रुचि की उग्रता हुए बिना, जो उपयोग आत्मा के अतिरिक्त अन्य ज्ञेयों में ही, सुख की खोज के लिए, मारा-मारा फिरता था, वह उस तरफ से हटकर आत्मा के सन्मुख कार्यशील कैसे हो सकेगा। अतः इस प्रकार की रुचि को उत्पन्न होने का श्रेय एकमात्र यथार्थ समझपूर्वक निःशंक निर्णय को ही है।

यथार्थ समझ की पहिचान क्या ?

प्रश्न :— उपरोक्त प्रकार की रुचि के उत्पादन का मूल कारण तो आपने मुक्ति मार्ग समझने में यथार्थ मार्ग ढूँढ निकालकर, उसकी यथार्थता

पर निःशंक विश्वास होना बताया। इस पर से प्रश्न उपस्थित होता है कि मार्ग की यथार्थता की पहिचान करने के लिए हमारे पास कसौटी क्या है ?

समाधान :— कसौटी तो आत्मा की आत्मा के पास ही हो सकती है, आत्मा से बाहर तो हो ही नहीं सकती, अतः हमारी बुद्धि ही इस का निर्णय करने की वास्तविक कसौटी है। जैसे कसौटी के पत्थर पर सुवर्ण की परीक्षा करने के लिए सर्वप्रथम १०० टंच से शुद्ध स्वर्ण की लकीर बना ली जाती है, फिर उसको मुख्य बनाकर जो भी मिश्रित अशुद्ध स्वर्ण आता है उसकी भी लकीर बना ली जाती है और दोनों मिलान करने से ही, उस अशुद्ध स्वर्ण में भी शुद्ध स्वर्ण का मूल्यांकन कर लिया जाता है। इसीप्रकार अपनी बुद्धिरूपी कसौटी पर अर्थात् ज्ञान में, शुद्ध स्वर्ण के समान, परमशुद्ध आत्मा अर्थात् सिद्ध भगवान की आत्मा का स्वरूप शुद्ध स्वर्ण की लकीर के समान ज्ञान में उतार लेना चाहिए और उसी को हमेशा मुख्य रखकर आगम के सभी कथनों को समझना चाहिए। आगम के जो कथन उस शुद्धस्वरूप को प्राप्त करने का मार्ग बतावें, उन कथनों को निश्चय कथन अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग यानी यथार्थ मोक्षमार्ग स्वीकार एवं उपादेय मानते हुए यही मार्ग सत्य है ऐसी निःशंक श्रद्धा उत्पन्न करना चाहिए।

समस्त द्वादशांग के उपदेश का सार है तो मात्र यही है कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान करना। समयसार की गाथा ४ एवं ५ में भी आचार्यश्री ने "शुद्ध आत्मा", जिसका स्व से एकत्व है एवं पर सबसे विभक्त है ऐसे परमशुद्ध आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा की है। यथा -

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोग बंधन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभना॥ ४ ॥

दर्शाऊं एक विभक्त को, आत्मातने निज विभव से।
दर्शाऊं तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने॥ ५ ॥

इसके अतिरिक्त आचार्यश्री ने पंचास्तिकाय संग्रह की टीकापूर्ण करने के पूर्व गाथा १७२ की टीका में पूरे ग्रंथ का शास्त्र तात्पर्य एकमात्र "वीतरागता" बताते हुए निम्नप्रकार कहा है। वह मूलतः पठनीय है यथा—

"विस्तार से बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात्मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।

तात्पर्य द्विविध होता है - "सूत्र तात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें, सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र में प्रत्येक गाथा में प्रतिपादित किया गया है, और शास्त्र तात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है :—

"सर्व पुरुषार्थों में सारभूत ऐसे मोक्षतत्व का प्रतिपादन करने के हेतु से जिसमें पंचास्तिकाय और षट्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तु का स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बंध मोक्ष के संबंधी स्वामी, बंध-मोक्ष के आयतन स्थान और बंध-मोक्ष के विकल्प भेद प्रगट किए गए हैं, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है तथा साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परमवीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है—

ऐसे इस यथार्थ परमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।"

उपरोक्त आगम प्रमाणों से स्पष्ट समझ में आता है कि समस्त जिनवाणी का तात्पर्य तो एकमात्र वीतरागता ही प्राप्त करना है। डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने अपनी देव-शास्त्र-गुरु की पूजन की जयमाला में भी कहा है कि :—

वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर, हमको जो दिखलाती है॥

इसप्रकार उपरोक्त सभी प्रकार से विचार करने पर यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि यथार्थ धर्म का मार्ग पहचान करने के लिए जिनवाणी के सभी कथनों में से यथार्थ मोक्षमार्ग बताने वाली, शुद्ध स्वर्ण की लकीर के समान हमारी यथार्थ समझ ही कसौटी का काम करेगी। उसको मुख्य बनाकर जिनवाणी के सभी कथनों की यथार्थता 'एकमात्र वीतरागता' ही, को बहुत सरलता के साथ पहिचाना जा सकता है।

मात्र वीतरागता को ही यथार्थ मोक्षमार्ग क्यों माना जावे?

प्रश्न :— वीतरागता को ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग क्यों मान लेना चाहिये ?

समाधान :— सिद्धान्त है कि कारण तो कार्य के अनुकूल अर्थात् उसी जाति का होता है। हमारा कार्य अर्थात् आदर्श-ध्येय, एकमात्र सिद्ध भगवान का आत्मा है। उनमें जो भी गुण वर्तमान में प्रगट है उनको प्रगट करने का ही हमारा उद्देश्य है ।; इसलिये वे ही हमारे आदर्श हैं। अत: उस आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग भी आदर्श की जाति का ही तो होगा, ताकि उस मार्ग का अनुसरण करके हम भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। जो मार्ग आदर्श की जाति से विपरीत जाति का अथवा अन्य किसी भी प्रकार का हो उसका अनुसरण करने से हम आदर्श को कैसे प्राप्त कर सकेंगे? नहीं कर सकेंगे।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि सिद्ध भगवान में जो भी गुण प्रकट हैं, उन गुणों का पोषक मार्ग ही सत्यार्थ हो सकता है, अन्य कोई नहीं। भगवान सिद्ध की आत्मा का परिचय प्राप्त करने के लिए हम, इसी

पुस्तक में बताये "आत्मा के स्वभाव को पहिचानने की विधि" शीर्षक विषय के अन्तर्गत विस्तार से पढ़ चुके हैं। वहाँ से समझ लेना चहिये।

मार्ग निश्चित करने के लिये, संक्षेप से समझा जावे तो, जो राग द्वेष हमारे में विद्यमान है, उनका सिद्ध भगवान की आत्मा में अभाव है। राग-द्वेष का अभाव होते ही उनका ज्ञान भी पूर्ण विकास को प्राप्त हो गया। क्योंकि जिन पदार्थों को ज्ञान जानता था, उनके प्रति राग-द्वेष करने पर वह ज्ञान उतने में ही सीमित हो जाने से उसका विकास कुंठित हो जाता था, सिद्ध की आत्मा को रागादि का अभाव हो जाने से, ज्ञान पूर्ण विकास को प्राप्त होकर प्रगट हो गया। अत: जानने को कुछ शेष ही नहीं रह गया। इसलिए जानने संबंधी इच्छाओं का भी अभाव हो गया तथा जाने हुए पदार्थों में भी किसी के प्रति राग अथवा द्वेष का भी अभाव हो जाने से आकुलता उत्पन्न होने के कारणों का ही अभाव हो गया फलत: वे परमसुखी हैं।

इससे विपरीत हमारी आत्मा तो राग-द्वेषादि भावों का ही उत्पादन करती रहती है, फलत: हमारा ज्ञान भी कुंठित रहता है और नहीं जाने पदार्थों को जानने तथा राग वाले पदार्थों को भोगने की एवं द्वेष वाले पदार्थों का अभाव करने की आकुलता को भोगते हुए ही, दुर्लभता से प्राप्त इस मनुष्य जीवन को निष्फल ही खो देता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि ज्ञान के विकास को कुंठित करने का कारण एवं आकुलता के उत्पादन का भी कारण, एकमात्र राग-द्वेषादि भाव ही है। अत: हमको सिद्ध बनने के लिए इन राग-द्वेषादि भावों के उत्पादक कारणों का ही अभाव करना होगा।

समस्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वीतरागता प्रगट करने का उपाय ही एकमात्र मोक्ष का सत्यार्थमार्ग हो सकता है। अत: हमको सिद्ध

बनने के लिये इन राग-द्वेषादि भावों के उत्पादक कारणों का ही अभाव करना होगा।

समस्त विवेचन से सिद्ध होता है कि वीतरागता प्रगट करने का उपाय ही एकमात्र मोक्ष का सत्यार्थमार्ग हो सकता है। अतः जैसा पंचास्तिकाय ग्रंथ में बताया है कि सभी शास्त्रों का तात्पर्य तो एकमात्र वीतरागता ही है, सभी कथन उस ही को प्राप्त करने का मार्ग बतलाते हैं। पूर्ण वीतरागता तो निर्विकल्प उपयोग अर्थात् शुद्धोपयोग दशा में ही प्राप्त होती है, वह तो सप्तम गुणस्थान से ऊपर वाले जीवों को ही होती है। लेकिन उसका प्रारम्भ तो चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त जीव को ही हो जाता है। वह वीतरागता ही साक्षात् मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग है। साथ ही चार गुणस्थान से छह गुणस्थान तक के जीवों को निश्चय मोक्षमार्ग रूपी वीतरागता के साथ-साथ सरागता भी वर्तती है, उसको भी जिनवाणी में व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। हमको आगम के अध्ययन अथवा सत्समागम आदि के समय, अपनी बुद्धिरूपी कसौटी को जाग्रत रखकर उन समस्त कथनों में से जो कथन, पूर्ण वीतरागता को मोक्षमार्ग बताते हों, उनको यथार्थ मोक्षमार्ग स्वीकारते हुए, साक्षात् उपादेय मानते हुए, जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो तब तक, ज्ञान में आती हुई व्यवहार मोक्षमार्ग द्वारा कथित सरागता को भी वीतरागता प्राप्त करने के पूर्व पूर्णता प्राप्त न हो तब तक, गुणस्थान परिपाटी अनुसार हेय बुद्धिपूर्वक उसको भी स्वीकार करना चाहिये। वीतरागी स्वरूप में उपयोग नहीं ठहर सके अर्थात् निर्विकल्प उपयोग नहीं रहने की स्थिति में, उपयोग विषय कषायों में नहीं फंसने पावे और रुचि संसार-देह-भोगों के प्रति आकर्षित नहीं हो, इस के लिये एवं वीतरागता के प्रति अपनी रुचि को प्रोत्साहन मिलता रहे, ऐसे प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवर्तना चाहिये। शास्त्रों

के अध्ययन, अध्यापन, चिंतन, मनन, सत्समागम धर्मोपदेश आदि में अथवा जिनेन्द्र भक्ति, पूजन आदि कार्यों में अपने उपयोग को उलझाये रखने रूप कार्य, स्वयं रागरूप होने पर भी, तथा यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं होने पर भी उनको मोक्षमार्ग में साधक, सहयोगी, सहचारी रहने से जिनवाणी में, व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा है। इस प्रकार इनसे भी वीतरागता का पोषण होता है। अतः यह भी निःशंकतया स्वीकार करने योग्य है। नीचे नहीं गिरने देने रूप सहयोग तो उपरोक्त व्यवहार मोक्षमार्ग का है ही, अतः यह तो मानना ही चाहिए। पं. बनारसीदासजी ने भी नाटक समयसार जीवद्वार के सवैया ६ में निम्न प्रकार कहा है :—

ज्यौं नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि
सोई हितू जो गहै दिढ़बाही।
त्यौं बुधकौं विवहार भलौ,
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं॥
यद्यपि यौं परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाही।
जीव अव्यापक है परसौं,
विवहार सौं तौं पर की परछाहीं॥

ये सभी निर्णय हमारी बुद्धि रूपी कसौटी को सजग बनाये रखने पर ही सम्भव हो सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि हमको समस्त द्वादशांग में से भी सत्यार्थ मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग समझकर निर्णय करने के लिए किसी विशेषज्ञ को ढूँढने आदि किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है। हमारी स्वयं की बुद्धि ही सत्यार्थ मार्ग एवं मिथ्यामार्ग की परीक्षा करके निर्णय करने के लिये सक्षम है।

वीतरागता की पहिचान क्या ?

प्रश्न :— आपके उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि यथार्थ मोक्षमार्ग तो एकमात्र वीतरागता ही है, वह तो हमें अभी प्राप्त नहीं है। अतः वीतरागता की पहिचान कैसे हो सकती है। हमको तो अभी हमारी परिणति में मात्र क्रोध, मान, माया लोभादि भाव ही अनुभव में आ रहे हैं। अतः इनको कम करना ही वीतरागता लगता है। अगर यही वीतरागता की पहिचान है तो इनकी मंदता को ही वीतरागता स्वीकार कर लेनी चाहिए।

उत्तर :— नहीं ऐसा नहीं है, क्रोधादि भावों की मंदता तो मात्र कषाय की मंदता अर्थात् शुभभाव ही है। शुभभाव भी तो राग ही है। वीतरागता तो राग का अभाव है, अतः राग वीतरागता का उत्पादन कैसे कर सकता है? इसलिए राग की मंदता, वीतरागता का उत्पादक कारण बिलकुल नहीं है, ऐसी मान्यता, विपरीत होने के कारण वीतरागता उत्पन्न करने के मार्ग से भी भ्रष्ट कर देती है।

प्रश्न :— क्रोधादिक कषायों की मंदता में हमको तो शांति का अनुभव होता है, इस ही से अनुमान होता है कि यही मंदता और भी बढ़ते-बढ़ते पूर्ण वीतरागता हो जावेगी।

उत्तर :— राग की मंदता में भी राग का तो सद्भाव ही रहेगा और वीतरागता तो राग के अभाव में ही उत्पन्न होती है। अतः राग की मंदता रूप सद्भाव में, वीतरागता की उत्पत्ति कैसे होगी? नहीं हो सकती। अतः राग की मंदता की पराकाष्ठा भी वीतरागता को उत्पन्न नहीं कर सकती।

प्रश्न :— तब तो गंभीर समस्या उत्पन्न होती है कि वीतरागता के घातक ऐसे राग की परिभाषा क्या है? जिनवाणी में तो इन, क्रोधादि

भावों को ही कषाय के रूप में राग-द्वेष के नाम से संबोधन किया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई रागादि हमको तो अनुभव में ही नहीं आते हैं?

उत्तर :— जिनवाणी में जहाँ भी कषायों का वर्णन है वहाँ इन कषायों की चार जाति भी बताई हैं तथा इनकी तीव्रता मंदता की उग्रता एवं मंदता को मापने वाली छह लेश्या भी बताई हैं। इसप्रकार क्रोध, मान, माया, लाभादि कषायों की जाति ४ प्रकार की हैं अर्थात् ये कषायें ४ जाति की होती हैं। वे जाति हैं— (१) अनंतानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानावरणी (३) प्रत्याख्यानावरणी तथा (४) संज्वलन। अर्थात् अनंतानुबंधी, क्रोध, मान, माया लोभ इसीप्रकार अप्रत्याख्यानावरणी, क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरणी एवं संज्वलन में भी उपरोक्त प्रकार से ४-४ भेद समझना चाहिए। क्रोधादि कषायों की मंदता और तीव्रता अर्थात् उग्रता और मंदता को नापने के लिए आचार्यों ने लेश्याओं के माध्यम से ज्ञान कराया है। जैसे कृष्ण लेश्या के, क्रोध मान-माया-लोभ इसीप्रकार बाकी लेश्याओं, नील, कापोत एवं पीतपद्म, शुक्ल इन चारों में भी क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषायें होती हैं। इनमें से कृष्ण, नील, कापोत को अशुभ लेश्याऐं अर्थात् संक्लेश परिणाम की सूचक बताया है एवं पीत-पद्म-शुक्ल को शुभलेश्याऐं अर्थात् विशुद्ध परिणामों की सूचक कहा है। इसप्रकार के सभी भेदों को जिनवाणी में कषाय के नाम से ही कहा है लेकिन मात्र क्रोधादि-मान-मायादि भाव अकेले ही कषाय नहीं हैं। ये सभी तो कषाय के नाम से ही कहे जाते हैं। लेकिन उपरोक्त भेदों में से कौनसा कथन किस अभिप्राय को सिद्ध करने के लिए कहां पर कषाय के नाम से कहा गया है, इसका निर्णय तो आत्मार्थी को अपने विवेक को जाग्रत करते हुए स्वयं की बुद्धि से ही करना पड़ेगा।

हर एक प्राणी को अनुभव में तो क्रोध-मान-माया-लोभादि भाव

ही आते हैं व आवेंगे। लेकिन भाव किस जाति की कषाय के हैं एवं उनकी तीव्रता-मंदता कितनी उग्र है या मंद है यह सब तो आत्मार्थी को कथन के संदर्भ को देखते हुए, किस प्रयोजन सिद्ध करने के लिये यह कथन किया गया है, यह स्वयं को ही समझकर निर्णय करना होगा।

जहाँ मोक्षमार्ग प्राप्त करने की अपेक्षा अर्थात् वीतरागता उत्पादन करने की अपेक्षा कथन किया गया हो तो वहाँ जाति की मुख्यता से ही क्रोधादि भावों को मापना चाहिए। मोक्षमार्ग के प्रयोजन में क्रोधादि भावों को लेश्या की उग्रता अथवा शिथिलता से मापना एकदम विपरीत अभिप्राय होगा। क्योंकि अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को तथा चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्ज्ञानी को भी छहों प्रकार की लेश्याएँ तो विद्यमान रहती हैं। लेकिन अज्ञानी तो संसार मार्गी, वीतरागता के विपरीत वर्तने वाला है और चतुर्थ गुणस्थान वर्ती तो मोक्षमार्गी हो गया है, उसको तो अनंतानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता का प्रारम्भ हो गया है। लेकिन लेश्याएँ तो छहों विद्यमान रहेंगी। जैसे अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि जो नवे ग्रैवेयक जाने वाला है उसको तो शुक्ललेश्या के परिणामवर्त रहे हैं तथा भरत चक्रवर्ती ने जिस समय बाहुबली के ऊपर सुदर्शन चक्र चलाया, उस समय के उनके परिणाम कृष्ण लेश्या के थे, फिर भी उनको क्षायकसम्यग्दर्शन विद्यमान अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान विद्यमान था। पंचम गुणस्थानवर्ती को प्रतिमाएँ होती हैं। परिग्रहत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा में होता है, तब तक तो मर्यादित व्यापार धंधे में भी निरत रहता है। अतः उसके सभी छहों लेश्याएँ होना संभावित रहता है। लेकिन अंतर में अप्रत्याख्यानी के अभावात्मक वीतरागता तो वर्तती है। अतः इन लेश्याओं संबंधी मंदता-तीव्रता से, मोक्षमार्गगत वीतरागता का नाप नहीं हो सकता। अतः क्रोधादि की मंदता-तीव्रता को वीतरागता का द्योतक समझ लेना महान् विपरीतता है। क्रोधादि की तीव्रता मंदता तो मात्र शुभभाव अथवा

अशुभ भाव की द्योतक है। जो कि संसार मार्गी को एवं मोक्षमार्गी को भी निरंतर वर्तते रहते हैं। इनकी मंदता-तीव्रता मोक्षमार्ग संबंधी वीतरागता की द्योतक नहीं होती।

इसप्रकार जिनवाणी के जो कथन गुणस्थान एवं सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने का मार्ग बताने वाले हों, वे ही कथन वीतरागता के उत्पादक मार्ग बताने वाले हो सकते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही अनंतानुबंधी का भी अभाव निश्चित रूप से होता ही है। अन्य किसी भी प्रकार से अनंतानुबंधी क्रोधादि का अभाव नहीं हो सकता और वही वीतरागता मोक्षमार्गी जीव को वर्तती है। समस्त जिनवाणी का केन्द्र बिंदु इस वीतरागता को उत्पन्न करने का अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने का मार्ग बतलाने का ही है।

अनंतानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता की पहिचान क्या ?

प्रश्न :— क्रोध-मान-माया-लोभादि भाव तो अनुभव में आने के कारण ज्ञान की पकड़ में भी आते हैं, तथा उनकी तीव्रता मंदता का भी ज्ञान हो जाने से, उनको तीव्र से मंद करने में हमारा पुरुषार्थ भी सफल होता हुआ स्पष्ट ज्ञात होता है। लेकिन उन भावों के उत्पन्न होने के समय कौन से भाव तो अनंतानुबंधी सहित हैं, और कौन से भाव अनंतानुबंधी रहित के हैं, ऐसा भेद कैसे जाना जावे ?

उत्तर :— जब उन कषायों में जाति भेद है, तो उनके स्वाद अर्थात् अनुभव में भी भेद अर्थात् भिन्नता तो अवश्य होती ही है और होनी भी चाहिए। यह बात अवश्य है, कि जिसको दोनों जाति के भावों का जातिगत कषाय का एवं लेश्यागत कषाय का अनुभव हो, वही दोनों के अन्तर को पहिचान सकेगा। अनादिकाल से जिसको दूसरे प्रकार का अनुभव ही नहीं हुआ, एक लेश्यागत कषाय के अनुभव वाला जीव, दोनों का अन्तर अपने अनुभव द्वारा कैसे जान सकेगा, पहिचान सकेगा। नहीं

पहिचानेगा। अतः ज्ञानी - सम्यग्दृष्टि जीव को तो दोनों प्रकार का अनुभव है। पहिले अज्ञानदशा में जो अनंतानुबंधी जाति के क्रोधादि भाव अनुभव में थे, उनका अभाव करके ज्ञानी हुआ, तब उसको अनंतानुबंधी के अभाव से प्रगट होने वाली वीतरागता प्रगट हो गई। अतः उस ज्ञानी पुरुष को अज्ञानजनित राग एवं ज्ञानजनित वीतरागता दोनों का अनुभव हो जाने से, दोनों का अन्तर स्पष्ट अनुभव में आता है। पूर्व दशा में अनंतानुबंधी के साथ वर्तने वाली आकुलता अर्थात् दुख और उसके अभाव से उत्पन्न हुई वीतरागता के साथ वर्तने वाली अनाकुलता रूपी सुख, दोनों का अनुभव होने से, प्रत्यक्ष अंतर ज्ञात होता है। यही कारण है कि उसकी श्रद्धा और भी दृढ हो जाती है। वह अपनी उस भूमिका से अपने को च्युत नहीं होने देता, अपितु बढ़ाने का ही पुरुषार्थ करता रहता है।

अज्ञानी को तो मात्र अनंतानुबंधी के सद्भाव में वर्तने वाले क्रोधादि भावों की विविधता एवं मंदता-तीव्रता का ही अनुभव है, इसलिये वो तो मात्र इन्हीं के अन्तर को जानता है। जाति भेद के अंतर का तो उसको अनुभव ही नहीं हुआ। अतः वह दोनों के अन्तर को कैसे जानेगा। नहीं जान सकेगा।

प्रश्न :— हम अज्ञानी जीवों को ज्ञानी बनने के लिए जब तक वह अंतर नहीं ज्ञान में आवेगा, हमारी रुचि उसको प्राप्त करने के लिए आकर्षित कैसे हो सकेगी। अतः अज्ञानी को तो ज्ञानी बनना ही असंभव हो जावेगा?

उत्तर :— ऐसा नहीं है। अज्ञानी भी अगर सत्यार्थ निष्ठा से ज्ञानी बनना चाहता है और उसको यह विश्वास जाग्रत हो गया कि अनंतानुबंधी के अभावात्मक वीतरागता अर्थात् शांति मुझे तो प्रगट करनी ही है तो वह आत्मज्ञता प्राप्त सत्पुरुषों की संगति करके, उस मार्ग को समझने का प्रयास करेगा। जिसके द्वारा उन्होंने वह आत्मज्ञता प्राप्त की है कुनका

समागम करेगा अथवा जिनवाणी के अध्ययन द्वारा, जिनवाणी में से यथार्थ मार्ग खोज निकालेगा, जिससे आत्मज्ञता प्राप्त हो। अथवा ऐसे साधर्मी पुरुष जो आत्मज्ञता प्राप्त करने के पुरुषार्थ में संलग्न हों एवं अपने से विशेष सफलता प्राप्त कर चुके हों, उनका समागम करके उस मार्ग को खोजकर अवश्य प्राप्त कर लेगा। पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि के प्रकरण में ऐसे ही आत्मार्थी पुरुष को निम्न पद्धति अपनाने का निर्देश किया है :—

"परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिए। सो विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में विचार करे कि जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है? वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा, सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने। तथा यदि उपदेश से अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हो उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसीप्रकार जब तक निर्धार न हो तब तक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समान बुद्धि के धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे, तथा जो प्रश्नोत्तर में निरूपण हुआ हो उसका एकान्त में विचार करे। इसीप्रकार जब तक अपने अंतरंग में - जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर - भाव भासित न हो तब तक इसीप्रकार उद्यम किया करे।"

इस ही प्रकरण में आगे और भी कहा है :—

"इसप्रकार इस जानने के अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है, इत्यादि रूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है इसलिये अंतरंग प्रीति से उसका साधन करता है।"

उपरोक्त सभी प्रकारों से निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सम्यक्त्व प्राप्त करने का एवं उससे उत्पन्न होने वाली वीतरागता एवं अनाकुल शांति प्राप्त करने का वास्तविक जिज्ञासु तो जिनवाणी के अध्ययन एवं सत्समागमपूर्वक किसी भी प्रकार से सत्यार्थ मार्ग खोजकर अवश्य प्राप्त कर लेगा। जिसप्रकार तृषा से प्यासा व्यक्ति, अपनी प्यास बुझाने के लिए कुएँ को अवश्य खोज लेता है उसीप्रकार आत्मार्थी भी अपनी आत्मा की पिपासा शांत करने के लिये जैसे भी बनेगा वैसे और जहाँ से भी प्राप्त हो सकेगा वहाँ से, सत्यार्थ मार्ग समझकर उसे अवश्य प्राप्त कर लेगा।

जिनवाणी के अध्ययन से मार्ग खोज निकालना असंभव जैसा लगता है।

ऐसा नहीं है। यह मान्यता बिल्कुल विपरीत है, मोक्षमार्ग जिन-जिनको भी, जब भी प्राप्त हुआ है, जिनवाणी के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार गाथा ८६ में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये द्रव्यश्रुत के अध्ययन को उपायांतर कहा है तथा समयसार गाथा ५ में आचार्यश्री ने अपने निजवैंभव के जन्म का सर्वप्रथम कारण द्रव्यश्रुत के अवलम्बन को कहा है और समयसार गाथा १४४ की टीका में प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय करके, लिखा है। अतः समस्त आगम से यह सिद्ध है कि आत्मा का अनुभव जिनवाणी की शरण प्राप्त करे बिना, कदापि सम्भव नहीं है। लेकिन यह अवश्य है जिनवाणी का अध्ययन किस अभिप्राय से किया जावे, यह ध्येय स्पष्ट हो जाना चाहिए अर्थात् जिनवाणी में से क्या विषय समझना है, किसलिये अध्ययन करना है, अध्ययन द्वारा क्या प्राप्त करना है? ऐसा अभिप्राय अवश्य स्पष्ट होना चाहिए। जिनवाणी के अध्ययन में किसी विषय को समझकर निर्णय

करने की मुख्यता होनी चाहिए। इस विषय पर मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २५९ पर निम्नप्रकार से प्रकाश डाला है :—

"उपदेश में कोई उपादेय, कोई हेय, तथा कोई ज्ञेयतत्वों का निरूपण किया जाता है। वहाँ उपादेय-हेय तत्वों की तो परीक्षा कर लेना, क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय मान लें तो बुरा होगा, हेय को उपादेय मान लें तो बुरा होगा।"

इसी पृष्ठ के अन्तिम पैरा में परीक्षा करने के विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि :—

"वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वों को तथा स्व-पर को पहिचानना तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना। तथा निमित्त- नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना। इत्यादि मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना।"

उपरोक्त प्रकार से समस्त द्वादशांग में से मात्र उपरोक्त विषय ही समझकर परीक्षा करके, ग्रहण करने योग्य है। अतः हमको जिनवाणी का अध्ययन, मात्र उपरोक्त विषयों को समझने का ध्येय निश्चित करके, करने से निश्चित रूप से आत्मा लाभ के लिये अग्रसर हो सकेंगे।

जिनवाणी में समझने योग्य विषय तो अनेक हैं, हम किसे पहिचानें?

प्रश्न — उपरोक्त कथित विषय भी अनेक हो गये ?

उत्तर — उपरोक्त सभी विषयों का तात्पर्य तो एक में ही समाहित है। अपना आत्मा जो उपरोक्त अनेकताओं में खोया हुआ-छुपा हुआ

बैठा है उसको खोजकर निकालने के दृष्टिकोण से, उपरोक्त अनेकताओं में ही अपनी खोज को सीमित करते हुए, खोजने से अपना आत्मा अवश्य प्राप्त हो सकता है।

उपरोक्त परीक्षा करने के विषयों में सभी का उद्देश्य तो मात्र एक ही बताया है कि "मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना।"

"मोक्षमार्ग तो एक मात्र वीतरागता ही है अर्थात् आत्मा के बहिर्लक्ष्यी उपयोग के जो भी विषय बनते हों, उन सबके प्रति अंतरंग में उपेक्षावृत्ति उत्पन्न होकर, वह उपयोग आत्मसन्मुख होने को उत्सुक हो - रुचि जाग्रत हो, वही वास्तव में वीतरागता की सूचक है।" तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सभी कथनों की परीक्षा, मात्र इस ही उद्देश्य को रखकर करनी चाहिए। अन्य उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए, विद्वान बनकर दूसरों पर प्रभाव डालने आदि उद्देश्यों की पूर्ति हेतु, अध्ययन किया जाना अथवा परीक्षा किया जाना, आत्मकल्याण के लिये अर्थात् अंतरंग में वीतरागता उत्पादन करने के लिये किंचित मात्र भी उपयोगी नहीं हो सकता।

अब उपरोक्त विषयों का वर्गीकरण करें तो वे सभी मात्र तीन भागों में विभक्त करके पं. टोडरमलजी ने बताये हैं। (१) जीवादिक द्रव्यों व तत्वों को तथा स्व-पर को पहिचानना। (२) त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना। (३) निमित्त नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना। इसप्रकार पंडितजी ने तीन वर्गों में उपरोक्त परीक्षा करने के विषयों को बाँटा है। पहला पहिचानने के लिये, दूसरा स्वरूप पहिचानने के लिये. तीसरा जैसे हैं वैसे पहिचानने के लिए।

द्रव्यों व तत्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानें

जीवादि द्रव्यों व तत्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानना

उपरोक्त तीनों में से पहिले विषय में छह द्रव्यों को पहिचानने के लिये बताया, अर्थात् छहों द्रव्यों में से स्व अर्थात् मैं कौन हूँ और पर कौन हैं। उनमें स्व के बारे में तो, उपादेय बुद्धिपूर्वक, स्वपना स्थापन करने, दृढ करने के उद्देश्य से, उसीको प्राप्त करने की रुचि जाग्रत हो, उस प्रकार से गहराई से पहिचानना। और बाकी के अन्य जीवद्रव्य एवं सभी पाँचों द्रव्यों को, अपने से भिन्न पर द्रव्य समझते-मानते हुए, उनमें परपना स्थापन करते हुए हेय बुद्धिपूर्वक, उनमें परपना दृढ़ करने एवं उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि प्रगट करने के लिये पहिचानना। इसप्रकार विश्व के छह द्रव्यों में, जो कि संख्या अपेक्षा अनंतानंत हैं, उन सबमें मैं अकेला एक जीवद्रव्य अनादिकाल से खो रहा हूँ। उन सबमें से अपने आपको पहिचान लेना ही वास्तव में उपरोक्त तीनों चरणों में से प्रथम चरण का उद्देश्य है। इसकी यथार्थ समझ से वास्तव में जिनवाणी के अध्ययन के लिए छह द्रव्यों को विस्तार से समझने का जो अभी तक महाभार -बोझा लग रहा था, वह एकदम हलका हो जाना चाहिए। क्योंकि जो मेरे हैं ही नहीं, वे कैसे भी हों, कितने भी हों, कितने भी कैसे भी परिणमते हों, उनको जानने में मेरी बुद्धि को लगाना तो मेरी शक्ति का दुरुपयोग ही होगा? मुझे तो मात्र अपने आत्मद्रव्य को ही विस्तार से समझना है। इसप्रकार का विश्वास जाग्रत हो जाने से आत्मार्थी की शक्ति सब तरफ से सिमटकर, एकमात्र अपने आत्मा के अनुसंधान करने में ही उद्यत हो जाती है, और पर से उपेक्षित होती जाती है। इसप्रकार से हमारा वीतरागतारूपी मोक्षमार्ग प्राप्त करने का उद्देश्य भी सफल होता जाता है।

नवतत्वों को स्व एवं पर के रूप में पहिचानना

इस ही पहले चरण का दूसरा विषय है "तत्त्वों का पहिचाना"। इस विषय को थोड़ा विस्तारपूर्वक समझना आवश्यक है। क्योंक इन तत्त्वों के भेद है, (१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बंध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष। इन्हीं में आश्रव के ही विशेष भेद — (८) पुण्य (९) और पाप को मिला देने से नवतत्व भी कहे जाते हैं। इसप्रकार इन नवतत्त्वों को भी पहिचानने के लिए लिखा है। इनको भी पहिचानने का अर्थ है, इनको भी स्व एवं पर के रूप में पहिचानना। हेय-उपादेय के रूप में पहिचानने के लिये तो इन ही तत्त्वों को आगे की लाईन में स्वरूप पहिचानने के लिये लिखा है। अत: हेय उपादेय करने के लिये स्वरूप पहिचानना क्यों आवश्यक है? इसके संबंध में चर्चा तो आगे करेंगे, यहाँ तो इन्हीं नवतत्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानने के विषय में चर्चा करेंगे।

जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व का अंतर

इस संबंध में सबसे पहले तो जीवद्रव्य एवं जीवतत्त्व का अंतर समझना चाहिये। कारण जीवद्रव्य को भी पहिचानने की श्रेणी में लिखा है एवं जीव तत्व को भी पहिचानने की ही श्रेणी में लिया है। अत: दोनों में अंतर तो अवश्य होना ही चाहिए। इस विषय पर विस्तार से चर्चा तो हम सुखी होने का उपाय भाग -२ में कर चुके है, लेकिन यहाँ भी विषय के स्पष्टीकरण के लिये संक्षेप से करेंगे।

द्रव्य की परिभाषा है "गुणपर्ययवद्द्रव्यं", और तत्त्व की परिभाषा है "तस्यभावस्तत्वं"। जब दोनों की परिभाषाओं में ही अंतर है, तब उनके परिभाष्य में भी अंतर तो अवश्य होना ही चाहिए। अत: दोनों में बड़ा अन्तर है और वह गंभीरतापूर्वक समझने योग्य है।

द्रव्य तो गुण और पर्यायों का समुदायरूप अभेद द्रव्य होता है, उनमें जीव भी एकद्रव्य है, अत: वह अपने गुण व पर्यायों सहित ही रहता है। लेकिन छह द्रव्यों की भीड-भाड़ में से अकेले अपने जीव द्रव्य को, जिसको आत्मा के नाम से भी कहा जाता है, भिन्न करने के लिये अर्थात् भिन्न पहिचानने के लिये "उपयोगो लक्षण द्वारा आचार्य श्री ने छह द्रव्यों से भिन्न समझने का उपाय बताया है। वह उपयोग ज्ञान गुण की पर्याय है। और जीवद्रव्य-ज्ञान गुण का धारक है तथा उसका कार्य उसकी पर्याय के द्वारा व्यक्त होता है। उस लक्षण से अनन्त द्रव्यों की भीड़-भाड़ में खोई हुई हमारी आत्मा को हम सुगमतापूर्वक पहिचान करके समझ सकते हैं एवं अनंतानंत द्रव्यों में से अपने आत्मा का स्व-पने रूप भिन्न अस्तित्व मानते हुए बाकी सभी में परपना श्रद्धा में प्रगट करने से, सबके प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होकर आत्मलाभ करने की रुचि जाग्रत हो जाती है। यही महान उपलब्धि है; छहों द्रव्यों को स्व एवं परपने के रूप में पहिचानने की। जीवद्रव्य का पहिचानना, मात्र छह द्रव्यों से भिन्न स्वद्रव्य में स्व-पना उत्पन्न करने के लिये ही उपकारी है।

हमारा विषय तो यहाँ, नवतत्त्वों को भी, स्व एवं पर के रूप में पहिचानने का क्या लाभ होगा यह समझना है। तत्त्व की परिभाषा "तस्यभावस्ततत्वं" ऊर बताई है। उसका अर्थ है, जो जिसका स्वभाव हो वह तो उसका स्व-तत्त्व ही होता है, तथा जो उसका स्वभाव नहीं होता लेकिन आत्मा में विद्यमान वर्तता हुआ होता है वह उसका स्व-तत्व हो नहीं सकता। अत: उसको स्वतत्व तो नहीं माना जा सकता। आत्मा को जो स्व-तत्त्व अर्थात् स्वभाव हो, वह तो स्व के रूप में स्वीकार करना ही चाहिए। लेकिन जो स्वभाव तो नहीं है लेकन जीवद्रव्य में उत्पन्न हो रहे हैं, मात्र इस कारण उनको स्व का भाव तो नहीं माना जा सकता। छह द्रव्यों में से स्व-जीव द्रव्य की पहिचान कराने के लिये तो उन भावों

सहित वाला जीव को मानना उचित था, क्योंकि वहाँ तो मात्र अन्य द्रव्यों से भिन्न करना था। लेकिन तत्त्वों के विवेचन में तो स्व-भाव एवं पर-भाव के माध्यम से ही पहिचानना संभव है और उस ही के आधार पर उन भावों का भी स्व एवं पर के रूप में वर्गीकरण करना उचित है। अत: इन नवतत्त्वों अथवा सात तत्त्वों को हमको स्व एवं पर के रूप में विभाजन करने के उद्देश्य से पहिचानना है। पं. टोडरमलजी साहब का भी उक्त कथन का यही उद्देश्य है एवं अभिप्राय है।

जीवतत्त्व की स्व के रूप में पहिचान करना

उपरोक्त सभी नवतत्त्व एक मात्र जीव के ही भाव हैं। उन भावों में गर्भित पुण्यतत्त्व एवं पापतत्त्व तो आश्रव तत्त्व एवं बंधतत्त्व में ही अन्तर्गभित है। क्योंकि पुण्य को पुण्याश्रव एवं पाप को पापाश्रव तथा पुण्य को पुण्यबंध एवं पाप को पाप बंध के नाम से जिनवाणी में भी कथन किया गया है। अपने को भी व्यवहार में इसीप्रकार से इनका परिचय है। इसलिये हम इस चर्चा में भी इन दोनों तत्त्वों को आश्रव एवं बंध तत्त्व में ही समावेश मानकर चर्चा करेंगे, अर्थात् इस चर्चा में हम नव के स्थान पर सात तत्त्व मानकर ही चर्चा करेंगे। पुण्य-पाप को अलग तत्त्व क्यों कहा गया है एवं अलग भी मानना क्यों आवश्यक है, इस पर यहाँ चर्चा नहीं करके, प्रसंगोपात्त उस विषय की चर्चा अलग से की जावेगी।

छह द्रव्यों में से आपने जीवद्रव्य को ही स्व के रूप में स्वीकार किया था। अत: अब अनुसंधान का विषय तो छह द्रव्यों में से मात्र मेरा स्व-द्रव्य ही रह गया था। जब स्व-द्रव्य का अनुसंधान करता हूँ तो उसमें एक तो स्थायी अर्थात् ध्रुवभाव विद्यमान है तथा उसी समय दूसरा अस्थायी-अनित्य-उत्पाद-व्यय भाव भी उसी जीवद्रव्य में विद्यमान है और दोनों नित्य व अनित्य परस्पर विरुद्ध भाव एक ही साथ मेरे आत्मद्रव्य में

विद्यमान हैं। अत: मेरे अनुसंधान का विषय सीमित हो जाता है कि इन दोनों में से मैं, किस भाव वाला आत्मा को मानकर, स्व के रूप में स्वीकार करूँ? इसलिये उपरोक्त समस्या के समाधान के लिये मुझे दोनों के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

जीवतत्व का स्वरूप

मेरे जीवद्रव्य का ध्रुवांश तो अनादि अनंतकाल तक एकरूप स्वभाव में बना रहता है, उसमें घटती-बढ़तीपना अर्थात् कम-ज्यादापना अथवा शुद्ध-अशुद्धपना आदि कोई प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। उत्पाद-व्ययांश, जिसको पर्याय कहा जाता है, वह तो कम-ज्यादा अर्थात् घटती-बढ़ती के रूप में तथा विकारी-अशुद्ध एवं अविकारी शुद्ध के रूप में, हर समय बदलती हुई अर्थात् परिवर्तित करती हुई अनुभव में आती है। उसका स्वभाव ही एकरूप रहने का नहीं है, निरन्तर उत्पाद और व्यय करते हुए पलटते रहना ही स्वभाव है। इन दोनों में से मुझे किसी एक को स्व के रूप में चुनना है। अत: मेरे ऊपर यह निर्णय करने की जिम्मेदारी आ जाती है कि मैं इन सातों में से स्व के रूप में किसको स्वीकार करूं। उत्तर बहुत साधारण है कि जिसका जीवन ही एक समय मात्र का है, उसमें अहंपना स्थापन करने से तो हर समय जीवन-मरण का क्लेश भोगना अवश्यंभावी हो जावेगा। अत: पर्याय में अहंपना मानना तो शांति का उपाय नहीं हो सकता। लेकिन ध्रुवांश जिसका जीवन ही अनादि अनन्त अविनाशी है, उसका आश्रय लेने से उसके सन्मुखवृत्ति करने से अर्थात् उसमें अहंपना स्थापन करने से ही मुझे स्थाई शांति प्राप्त हो सकती है। उपरोक्त सिद्धान्त मेरे अनुभव से भी मेल खाता है। जैसे समझ लो वर्तमान में मेरी उम्र ८० वर्ष की है, तो मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है कि ८० वर्ष में कितने ही प्रकार के आत्मा में भाव उत्पन्न हुए और वे सब व्यय भी हो गये लेकिन ८० वर्ष के पश्चात् भी उन सबका ज्ञान जिसमें मौजूद

है, ऐसा उस ज्ञान का धारक मेरा आत्मा, उन पर्यायों के उत्पाद काल में तथा व्यय के काल में भी उपस्थित था और अभी ८० वर्ष के पश्चात् भी मौजूद हूँ। इससे सिद्ध होता है कि जो भूत में भी था, वर्तमान में भी मौजूद है और भविष्य में भी जो पर्यायें होंगी उस समय भी उपस्थित रहेगा। साथ ही उस ध्रुवांश में ही मेरी ध्वनि भी स्व-पने की निकलती है। जैसे क्रोध की उत्पत्ति के काल में ही अन्दर से ऐसी ही ध्वनि निकलती है कि मुझे क्रोध आया। इसी से सिद्ध हो गया कि क्रोध पहले नहीं था, तब भी मैं उपस्थित था और अभी क्रोध आया, तब भी उपस्थित हूँ। क्रोध तो आगन्तुक भाव हुआ क्योंकि मेरी भाषा भी बोलती है कि मुझे क्रोध आया अर्थात् मैं तो स्थायी भाव हुआ। तात्पर्य यह निकला कि स्वपना स्थापन करने योग्य तो एक मात्र मेरा ध्रुव भाव-स्थायी भाव ही स्व मानने योग्य है। इस निर्णय के साथ ही पर्याय मात्र में परपना उत्पन्न हो जाने से उनके प्रति भी उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होकर मेरा पुरुषार्थ, स्वसन्मुख ही वर्तने लगता है।

इसप्रकार सातों तत्त्वों में से एकमात्र त्रिकाली स्थायी भाव, यह तो मैं हूँ और साथ ही पर्याय में वर्तने वाले सभी छह तत्त्व पर हैं-परतत्त्व है, स्व-तत्त्व नहीं है ऐसी पहिचानपूर्वक श्रद्धा खड़ी हो जाती है।

उपरोक्त पद्धति अपनाने की महान उपलब्धि तो यह हुई कि अब मुझे मेरी ही आत्मा की पर्यायें जो मेरे स्वतत्व में नहीं है लेकिन द्रव्य में ही उत्पन्न होती रहती हैं; उनमें मात्र परपना मान लेने से ही उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि खड़ी हो जाती है - ऐसी समझ उत्पन्न हो गई।

प्रश्न :— उपरोक्त मान्यता द्वारा तो स्वच्छन्दता खड़ी हो जाने की संभावना हो जावेगी ? और इतना मान लेने मात्र से पर्याय में शुद्धि कैसे हो जावेगी ?

उत्तर :— उपरोक्त निर्णय के पश्चात् ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होना ही आत्मार्थी का यथार्थ चिन्ह है। अत: आत्मार्थी ऐसा विचार करता हैकि पर्याय में परत्व बुद्धि प्रगट हुए बिना तो पूरा द्रव्य शुद्ध हो नहीं सकेगा और द्रव्य तो गुण-पर्यायों का समुदाय है। अत: उन पर्यायों की शुद्धि होना तो अतिआवश्यक है, उसके अभाव में मेरे को यथार्थ आत्मशांति प्राप्त नहीं हो सकती ? ऐसा विवेक जाग्रत हो जाता है और ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है पर्याय शुद्धि कैसे हो और आत्मार्थी पर्याय शुद्धि करने का मार्ग खोजने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। लेकिन उपरोक्त मान्यता अर्थात् विकारी पर्याय को भी पर मान लेने से, उस के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होकर, इस सिद्धान्त के प्रति तो निःशंक श्रद्धा बनी ही रहती है।

तत्त्वों का स्वरूप पहिचानना आवश्यक क्यों ?

उपरोक्त जिज्ञासा की पूर्ति हेतु पं. टोडरमलजी ने उक्त वाक्य के दूसरे चरण में उक्त उपाय भी निम्न शब्दों में बता दिया है कि "त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना, पहले चरण में तो मात्र स्व-पर के रूप में पहिचानने के लिये निर्देश था और इस दूसरे चरण में स्वरूप पहिचानने के लिये निर्देश है। अर्थात् अपनी ही पर्याय में होने वाले भावों को, जिनको नवतत्वों में पुण्य-पाप, तथा आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा एवं मोक्ष के नाम से कहा है, वे सभी सातों तत्त्व, जीवद्रव्य की पर्याय में ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन उनको जीव तत्त्व से भिन्न बताये हैं उनमें से जीव तत्त्व का स्वरूप तो उपरोक्त विवेचन से समझ लिया गया। अजीवतत्त्व तो प्रत्यक्ष रूप से मेरे से भिन्न दिख ही रहे हैं - अनुभव में भी आ रहे हैं अत: उनमें तो कुछ समझने जैसा रहता ही नहीं है। उनको तो जैसे वे मेरे से भिन्न हैं- वैसा ही मान लेना मात्र ही है। बाकी रहे इन तत्त्वों में ही कुछ त्यागने योग्य तथा कुछ ग्रहण करने योग्य बताये हैं एवं उनमें

मिथ्यात्व रागादि में, पुण्य-पाप तथा आश्रव-बंध इन चारों का समावेश हो जाता है जिनको त्यागने योग्य बताया है तथा ग्रहण करने योग्य में बाकी के, संवर-निर्जरा तथा मोक्ष तीनों का समावेश होकर, उपरोक्त सातों तत्त्व आ जाते हैं। इसप्रकार स्व-पर के पहिचानने के लिए तो जीवतत्त्व एवं अजीवतत्त्व ही रहे। जिनके संबंध में ऊपर चर्चा करके समझकर, जीवतत्त्व को स्व के रूप में तथा अजीव तत्त्व को पर के रूप में पहिचान कर अजीव के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न करने का निर्णय पूर्व में कर ही चुके हैं। लेकिन मेरे ही जीवद्रव्य में पर्यायें भी तो हो रही हैं अत: उनके संबंध में भी ऊपर चर्चा कर चुके हैं, वे भी मेरे से भिन्न ही हैं।

पर्यायों के संबंध में विशेष विचार करने पर और भी समझ में निर्णय में आता है कि जो पलटती है वह पर्याय ही तो है, ध्रुवांश अर्थात् जो अपरिवर्तनीय ध्रुवतत्त्व है, उसमें पलटन होती ही नहीं, ऐसा ही हमारे अनुभव-वेदन से भी प्रमाणित होता है। मुझे आकुलता का वेदन होता है वह, एक सरीखा और लम्बे काल तक टिकता कहाँ है ? क्षण-क्षण में पलट जाता है। यह वेदन तो पर्याय में ही होता है, लेकिन द्रव्य भी उस वेदन से एक समय मात्र भी अछूता नहीं रहता। इसी से सिद्ध होता है कि पर्याय के कार्य से द्रव्य भिन्न नहीं रह सकता। अत: पर्याय शुद्ध हुए बिना निराकुल शांति का वेदन, आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता। फलत: पर्याय शुद्धि प्रगट करे बिना उपरोक्त समस्त जानकारी, निरर्थक ही रहेगी। इसी उद्देश्य को लेकर उपरोक्त पर्यायरूप सातों तत्त्वों का स्वरूप समझने का निर्देश है। क्योंकि जिनको त्यागना है, तो क्यों त्यागना ? इस समाधान के लिये स्वरूप समझना अनिवार्य हो जाता है, ग्रहण करना, पर क्यों माननाए तथा क्यों यह भी स्वरूप समझे बिना संभव नहीं हो सकता इसलिये इनका स्वरूप समझना मोक्षमार्ग में अत्यन्त उपयोगी है।

उपरोक्त सातों तत्त्वों को, ग्रहण त्याग करने योग्य समझने के पूर्व, इनकी उत्पत्ति का कारण एवं इनको ग्रहण-त्याग करने से क्या लाभ होगा अर्थात् किस उद्देश्य को लेकर ग्रहण-त्याग करना चाहिए, यह समझना भी आवश्यक है; अत: वह निम्नप्रकार समझना चाहिये।

आस्रवादि तत्त्वों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

जिन आत्मा के भावों का हमको ग्रहण-त्याग करना है, उनकी उत्पत्ति के यथार्थ कारणों की यथार्थ जानकारी हो जाने से ही उन भावों का ग्रहण-त्याग करना सम्भव हो सकेगा ? क्योंकि कार्य का अभाव, कारणों के अभाव हुए बिना संभव नहीं हो सकता ? इस संबंध में आचार्यश्री अमृतचन्द्र ने पंचास्तिकाय की गाथा १२९ से १३० की टीका के उपोदघात में निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है :—

"दो मूल पदार्थ (जीव और प्रद्गल) कहे गए, अब उनके संयोग परिणाम से निष्पन्न होने वाले अन्य सात पदार्थों के उपोद्घात के हेतु जीव- कर्म और पुद्गलकर्म के चक्र का वर्णन किया जाता है।"

इसी गाथा की टीका के समापन में कहा है कि :—

"इसप्रकार (यहाँ ऐसा कहा) कि पुद्गल परिणाम जिनका निमित्त है ऐसे जीव परिणाम और जीव परिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पुद्गल परिणाम अब कहे जाने वाले (पुण्यादि सात) पदार्थों के बीजरूप अवधारणा।"

उपरोक्त आगम वाक्यों से यह सिद्ध हुआ कि उपरोक्त सातों संयोगी भावों अर्थात् सातों तत्त्वों का अभाव होकर, आत्मा के स्वाभाविक भाव प्रगट हो सकते हैं अर्थात् आत्मा को पूर्ण आनन्द दशा प्राप्त हो सकती है।

प्रश्न :— आत्मा तो अमूर्तिक जीवद्रव्य है, और कर्म तो मूर्तिक प्रद्गल द्रव्य है, अतः अमूर्तिक का उसके साथ संयोग होना कैसे संभव है?

आत्मा के तत्त्वों को संयोगीभाव कैसे कहा गया है?

समाधान :— वास्तव में तो अमूर्तिक आत्मा में, मूर्तिक कर्मादि का संयोग होता ही नहीं है। यह तो वास्तव में उपचार का कथन है। क्योंकि जब आत्मा में ये सात तत्त्व रूप भाव होते हैं, उसी समय द्रव्यकर्मों के अनुभाग का भी उदयकाल आ जाने से वो उदय में आते हैं, उसी समय आत्मा की ज्ञानपर्याय जिसका स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है, उसकी प्रगटता होती है, उसी समय जीव की अनादि से चली आ रही पर में अहंपने की मिथ्या मान्यता रूपी पर के साथ एकत्वबुद्धि की प्रगटता होती है, फलतः यह अज्ञानी आत्मा, परप्रकाशक ज्ञान में ज्ञात हुए ज्ञेय विषयों में एकत्व मान लेने से, उनका अपने में संयोग कर लेता है। इस प्रकार वास्तव में तो इन संयोगी भावों का कर्ता आत्मा ही है, कर्म नहीं। लेकिन ज्ञान ने किनके साथ एकत्व किया, यह समझाने के लिए, ऐसा उपचार करके कहा जाता है कि आत्मा ने द्रव्यकर्मों का संयोग किया। अतः उपचार से ही इन कर्मों को भी, इन संयोगी भावों का कर्ता कह दिया जाता है। लेकिन ऐसे सब कथन उपचार कथन समझना चाहिए।

उक्त विषय का समर्थन आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३४४ की टीका के अन्त में निम्नप्रकार दिया है :—

"इसलिए ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेद विज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है। (अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का

परिणमन उसको करता है इसलिए) उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना चाहिए (अर्थात् वो कर्ता है ऐसा स्वीकारना) वह भी तब तक कि जब तक भेद विज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञान और ज्ञेय के भेद विज्ञान से (अर्थात् भेद विज्ञान) सहित होने के कारण आत्मा को ही आत्मा का रूप जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञान परिणाम से परिणमित होता हुआ (ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उस-रूप ही परिणमता हुआ) मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।"

इसी विषय का समर्थन समयसार के कलश संख्या १६४ में भी किया गया है :—

"कर्म बंध को करने वाला कारण, न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग है) न अनेक प्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है। किन्तु "उपयोगभू" अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है वही एकमात्र (मात्र रागादि के साथ एकतापना वह ही) वास्तव में पुरुषों के बंध कारण है।"

इसप्रकार ये सातों तत्त्वों संबंधी सभी संयोगी भावों का वास्तव में अर्थात् निश्चय से तो आत्मा ही उत्पन्न करने रूप अथवा अभाव करने रूप दोनों का, अकेला ही करने वाला है, द्रव्यकर्मों को तो निमित्त मात्र, इसलिये कह दिया जाता है कि उनकी भी पर्याय उस समय वैसे ही अनुभाग वाली व्यक्त होती है। द्रव्यकर्म की उस पर्याय का वास्तव में कर्ता वह पुद्गलकर्म ही है। मात्र दोनों में अनुकूलता एवं अनुरूपता सहज बन जाने जितना ही संबंध है। इसीलिये आत्मा के परलक्ष्यीज्ञान में, आत्मा के भावकर्म ज्ञेय बनने पर उसी समय होने वाले द्रव्यकर्म के उदय भी सहजरूप से ज्ञेय बन जाते हैं और आत्मा उन दोनों में एकत्व कर लेता है। इसी कारण उन भावों को संयोगी भाव कहा जाता है।

आस्रवादि तत्त्वों को पर कैसे माना जावे तथा क्यों माना जावे ?

समाधान :— उपरोक्त निर्णयानुसार जब त्रिकालीध्रुवतत्त्व-ज्ञायक भावरूप जीवतत्त्व को, स्व के रूप में आत्मा ने स्वीकार किया तो अध्रुव ऐसी पर्याय, चाहे वह विकारी अशुद्ध हो अथवा निर्विकारी-शुद्ध हो, उसको अपने ही आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न होते हुए भी, पर के रूप में ही स्वीकार करना होगा। क्योंकि वे जीवतत्त्व से तो मिलते ही नहीं हैं। उन सभी पर्यायगत भावों को, स्व के रूप में अनादिकाल से मानता चला ही आ रहा हूँ, इसी कारण उनके सुधार करने की चेष्टा करते-करते अनंतभव धारण करते-करते अनादिकाल बीत गया लेकिन उनमें किंचित् मात्र भी सुधार नहीं हो सका, वरन् राग का ही उत्पादन होता रहा। लेकिन मेरा प्रयोजन तो एक मात्र वीतरागता उत्पन्न करना ही था। इन पर्यायगत भावों को अपना मानने से इसके साथ ममत्व छूटता नहीं, तथा मेरा प्रयोजन सिद्ध होता नहीं। मेरे वीतरागतारूपी प्रयोजन की सिद्धी के लिये ही, मेरे ही द्रव्य के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली पर्याय मात्र को, पर के रूप में स्वीकार करना आत्मार्थी को आवश्यक है। लेकिन इसके विपरीत, अपने जीवतत्त्व में स्वपना स्थापन करे बिना ही अगर कोई स्वच्छन्दी जीव, पर्याय में परपना मानकर, पर्याय में ही रत रहे अर्थात् अपनत्व रखे तो मात्र राग का ही उत्पादन करता रहेगा और अपने को यथार्थमार्गी मानकर अपने आत्मा का भारी नुकसान कर मिथ्यात्व को और दृढ़ करेगा तथा अपने प्रयोजन से विपरीत कार्य करता हुआ, आत्मा का महान्-महान् घात करेगा। क्योंकि विषयों को तो जड़ की क्रिया कहता हुआ, अपनी पर्यायों को पर कहता हुआ, विषयों में ही स्वच्छन्दता पूर्वक लिप्त रहेगा।

लेकिन जिनवाणी में तो अपनी सभी पर्यायों का कर्ता, आत्मा को भी कहा है तथा पर्यायों को पर भी कहा है वह कैसे ?

"गुण पर्ययवद्द्रव्यं" ऐसा आगम का सूत्र है, उसके अनुसार द्रव्य से पर्याय भिन्न नहीं है और न हो ही सकती है और न की ही जा सकती है। इसप्रकार वास्तव में पर्याय का कर्ता तो द्रव्य ही है, और द्रव्य ही उसका स्वामी है, अर्थात किसी भी प्रकार से वह पर्याय अन्य द्रव्य के द्वारा की जाती है ऐसा कभी नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने वाले के लिये तो, वस्तु का स्वरूप सिद्ध करते हुए, इस मान्यता का दृढ़ता के साथ निषेध किया जावेगा तथा किया भी जाना चाहिए। क्योंकि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा से तो द्रव्य ही पर्याय का स्व है और आत्मा उसका स्वामी है।

लेकिन मेरा प्रयोजन तो एकमात्र वीतरागता है, वह तो उपरोक्त मान्यता से सिद्ध नहीं होता? इससे विपरीत मेरे द्रव्य को ही राग पर्याय का उत्पादक एवं स्वामी बना रहना पड़ेगा? लेकिन ऐसा मानने से तो वीतरागतारूपी प्रयोजन के उत्पादन का अवसर ही समाप्त हो जावेगा, फलतः संसार का अभाव ही कभी भी नहीं हो सकेगा और मेरे लिये तो मोक्षमार्ग ही बंद हो जावेगा ! इसलिए मात्र वीतरागतारूपी प्रयोजन सिद्ध करने अर्थात् प्राप्त करने के लिए ही, मुझे मेरे द्रव्य द्वारा ही उत्पादित पर्याय को भी पर मानकर उससे अपना अपनत्व एवं ममत्व छोड़ना ही पड़ता है। "जैसे २० व्यक्ति एक नाव में नदी पार कर रहे थे, उसमें मेरे पुत्र के साथ मैं भी बैठा था। मेरे पुत्र ने नाव से नीचे पैर लटका रखा था, नदी के एक मगरमच्छ ने आकर उसका पैर पकड़ लिया और खींचने लगा, नाव डूबने लगी, तब मल्लाह ने चिल्लाकर कहा कि इस लड़के को तो मगर छोड़ेगा नहीं, इसलिये लड़के को इसके हवाले करो वरना सबके

सब नदी में डूबेंगे। ऐसी स्थिति में सबकी रक्षा के प्रयोजन हेतु अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र को भी अपने ही हाथों से उस मगर के हवाले करना पड़ता है।" इसीप्रकार अपना वीतरागतारूपी प्रयोजन सिद्ध करने हेतु अपनी ही पर्याय को पर मानकर उससे स्वामित्व छोड़ना ही पड़ता है और उस ही समय उन आश्रवादि विकारी पर्यायों को जानने वाली अपनी ही ज्ञानपर्याय, जो कि स्वाभाविक पर्याय है, उसके साथ एकत्व-ममत्व एवं स्वामित्व जोड़ना ही पड़ेगा क्योंकि वह स्वाभाविक पर्याय होने से ज्ञायक के साथ जुड़ी हई है। तब ही अपने द्रव्य में अर्थात् ध्रुव तत्व में अपनत्व और एकत्व हो सकता है। क्योंकि एक साथ दो में स्वामित्व-अपनत्व तथा एकत्व तो रह ही नहीं सकता। इसप्रकार वस्तु स्वरूप की अपेक्षा तो सभी पर्यायों का कर्ता आत्मा ही है लेकिन अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये स्वाभाविक पर्याय में अपनत्व स्वीकार करते हुए विकारी पर्याय से अपनत्व छोड़ना ही पड़ेगा।

विशेष बात समझने योग्य यह है कि ज्ञान के साथ-साथ ही श्रद्धा गुण भी तो परिणमन कर रहा है। ज्ञान स्व के रूप में जिसको प्रस्तुत करता है, श्रद्धा उस ही में अपनत्व मान लेता है। अपनत्व करने वाला तो श्रद्धा गुण है, वह किसी भी समय पर्यायें बिना तो रह ही नहीं सकता। इसलिए जिसको अपना मानने से आत्मा का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, उस ही को अपना मानने के लिये, निर्णय तो यथार्थ करना ही पड़ेगा। क्योंकि स्व-ध्रुवद्रव्य एवं स्वपर्याय दोनों ही हर समय विद्यमान सत् हैं, जिस समय पर्याय का उत्पाद होगा, उस ही समय त्रिकाली द्रव्य भी तो विद्यमान ही रहेगा, असत् तो नहीं हो जावेगा ? लेकिन त्रिकाली द्रव्य तो एकमात्र ज्ञानस्वभावी होने से वीतरागता का ही उत्पादक है, अतः मात्र उसको ही स्व मानने से मेरे को वीतरागता प्राप्त हो सकती है। पर्याय

तो स्वयं ही रागी है, वह मुझे वीतरागता कैसे देगी ? इसलिये मेरा प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, मेरे ही द्वारा उत्पादित विकारी पर्याय को भी पर ही मानना पड़ेगा उसे अपनी माने रखने से वीतरागता का उत्पादन कैसे हो सकेगा? जैसे अपने अपने ही शरीर में उत्पादित रोग को ही अपना रक्षक मानते रहने से निरोगता कैसे हो सकेगी? इसीप्रकार पर्याय स्वद्रव्य के द्वारा उत्पादित होते हुए भी विकारी होने से उससे एकत्व-ममत्व छोड़ने से ही मेरा वीरागतारूपी प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। ऐसा निर्णय करने से, अपनी पर्याय को भी पर मानते हुए, उससे ममत्व छोड़ना ही पड़ेगा। फलतः उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि सहज ही उत्पन्न हो जावेगी। यही सच्चा मार्ग भगवान की दिव्य ध्वनि में आया है, अतः ऐसा निःशंक होकर स्वीकार करने पर ही आत्मा के कल्याण का मार्ग प्रारंभ होता है।

संवर-निर्जरा व मोक्ष पर्याय तो निर्मल है, इनको भी पर क्यों माना जावे ?

जिनवाणी में सभी कथन मुख्यरूप से अपेक्षाओं से ही होते हैं। एक कथन तो वस्तुस्वरूप को सिद्ध करने की अपेक्षा से होता है, दूसरा कथन आत्मा का वीतरागतारूपी प्रयोजन प्रगट करने की अपेक्षा से होता है। पहली अपेक्षा में तो प्रयोजन गौण रहता है और दूसरी में वस्तु स्वरूप गौण रहता है। लेकिन परस्पर एक दूसरे से विपरीत नहीं होते। पहली अपेक्षा में पर्याय का उत्पादक द्रव्य ही है तथा वह पर्याय शुद्ध अथवा अशुद्ध जैसी हो उसको वैसी ही आत्मा की बताना, यह मुख्य होता है। दूसरी अपेक्षा में वस्तु स्वरूप को कायम मानते हुए भी, मेरी पर्याय की अशुद्धता का अभाव होकर वीतरागतारूपी शुद्धि कैसे प्रगट हो, उस प्रकार से वस्तुस्वरूप में से द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न मानते हुए किसका

आश्रय लेना अर्थात् ग्रहण करना और किसका आश्रय छोड़ना-त्याग करना यह निर्णय मुख्य होता है। ऐसे भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति को मुख्य रखते हुए दोनों प्रकार के कथन होते हैं। उपरोक्त आधार से संवर-निर्जरा-मोक्ष शुद्ध पर्यायें हैं अतः आत्मा उनका कर्ता है यह वस्तु स्वरूप है। लेकिन ये पर्याय तत्व है और पर्यायें तो अनित्य स्वभावी होती हैं, क्षण-क्षण में बदलती हैं, इनके आश्रय से तो आकुलता अर्थात् राग का ही उत्पादन होता रहेगा। उनको आश्रयभूत मानने से तो मेरे प्रयोजन का घात होता है। अतः मेरा प्रयोजन सिद्ध करने के लिए तो वे हेयतत्त्व अर्थात् परतत्त्व ही हैं, किसी भी प्रकार से स्व एवं उपादेयतत्त्व नहीं माना जा सकता। अतः मेरा प्रयोजन तो त्रिकाली ज्ञायक भाव जो ध्रुवतत्त्व है, मात्र उस ही के आश्रय से अर्थात् उसको ही स्वतत्त्व मानते हुए उपादेय रूप में स्वीकार करने से वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है। अतः मात्र मेरे त्रिकाली ज्ञायक भाव के अतिरिक्त मेरे लिये तो अन्य कोई प्रयोजनभूत नहीं है। शुद्ध पर्याय भी प्रयोजन भूत नहीं है तथा सिद्ध भगवान भी प्रयोजनभूत नहीं हैं। इसलिये प्रयोजन की सिद्धि के लिए तो मेरी शुद्ध पर्यायों को भी पर मानना पड़ता है। अतः अपेक्षाओं को समझ लेने से दोनों ही कथन यथास्थान सत्य भासित होते हैं।

उपरोक्त समस्त कथन का तात्पर्य

उपरोक्त विषय, मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २५० के अन्तिम पैरे में दिये गये परीक्षा करने के विषयों एवं मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है, उन विषयों में से (१) जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानना (२) तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप पहिचानना (३) तथा निमित्त-नैमित्तिक जैसे हैं वैसे पहिचानना। इन तीनों विषयों के स्पष्टीकरण

में चल रहा है। इनमें से प्रथम विषय को तो विस्तार से समझा तथा मिथ्यात्व-रागादिक क्यों त्यागने योग्य त्यागने आदि विषयों को भी संक्षेप में समझा लेकिन अन्य विषयों को भी समझना शेष है। फिर भी उपरोक्त विषयों के समझने से हमारी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कैसे होती है, उस पर कुछ संक्षेप से विचार करते हैं।

लौकिकजनों की भी ऐसी वृत्ति होती है कि जिसको अपना अर्थात् स्व मान लेता है उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। जैसे किसी भी अत्यन्त अपरिचित कन्या से, विवाह संबंध निर्णय होते ही अपनत्व उत्पन्न हो जाता है तथा विवाह हो जाने पर तो अपना सब कुछ सर्वस्व समर्पण कर देता है, ऐसा विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता कि यह तो अपरिचित है कैसे इसको सर्वस्व समर्पण कर दूँ। साथ ही वह कन्या भी पिता के घर के प्रति अब परपना आ जाने से, पिता के घर की हानि को अपनी हानि नहीं समझते हुए पिता के घर से कुछ भी लेकर आने में उसे प्रसन्नता होती है और अपने घर की कोई भी वस्तु पिता के घर चली भी गई हो तो वहाँ से वापस लेकर आने में जरा भी संकोच नहीं करती। यहाँ विचार करना चाहिए कि अपरिचित व्यक्ति को निःसंकोचतापूर्वक सर्वस्व समर्पण कर देने की भावना उत्पन्न हो जाने का कारण क्या था ? अगर खोजा जावे तो मात्र अपनत्व स्थापन हो जाना ही एक कारण सिद्ध होगा।

ठीक इसीप्रकार परमार्थ साधने में भी अर्थात् मोक्षमार्ग प्रारंभ करने में भी मुख्य कारण खोजा जावे तो एकमात्र स्वपना स्थापन करना ही है। आत्मा की मान्यता अर्थात् श्रद्धा में जिसमें अपनापन जम जाता है, आत्मा अपना सर्वस्व अर्थात् अनंत शक्तियों का सामर्थ्य उस ही को समर्पण कर देता है अर्थात् समस्त पुरुषार्थ इस ही ओर कार्यशील हो जाता है।

इस ही उद्देश्य को लेकर मोक्षमार्ग प्रकाशक में छह द्रव्यों तथा तत्वों को स्व-पर के रूप में पहिचानने को लिखा है और उसके पहिचान होने से ही अर्थात् अपने जीवतत्व में अपनापन आते ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होने का लिखा है। अत: उपरोक्त विषयों को स्व-पर के रूप में पहिचान कर श्रद्धा प्रगट करना ही मोक्षमार्ग प्रारंभ करने का सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

प्रश्न होता है आपके कथन से एवं जिनवाणी के अध्ययन से यह समझ में तो आ जाता है कि एक मेरे जीवद्रव्य के अतिरिक्त अन्य सभी छहों द्रव्य मेरे द्रव्य से तो पर ही हैं उनको स्व मान भी लूँ तो भी स्व तो नहीं बन जाते, वे तो पर ही रहते हैं। इसीप्रकार तत्त्वों में भी स्थाई अर्थात् अनादिअनंत काल तक अक्षुण्ण रूप से अस्तित्व बना रहने वाला ज्ञानस्वरूपी ध्रुवतत्त्व तो अकेला मेरा जीवतत्व ही है इसलिये वही एकमात्र स्व के रूप में स्वीकार करने योग्य है। अन्य सभी तत्त्व पर्याय तत्व हैं, वे पर्याय ही हैं और पर्याय का तो जीवनकाल ही मात्र एक समय का होने से उसका तो हर समय उत्पाद और व्यय अर्थात् जीवन मरण होता ही रहता है। उसमें अपनत्व मानने से तो मुझे मेरे ही जीवन-मरण का महान दु:ख अनुभव करना पड़ेगा। अत: उनको तो पर ही मानकर, उसके प्रति तो अपनत्व अर्थात् ममत्व छोड़ना ही पड़ेगा, अन्यथा शांति अर्थात् निराकुलता प्राप्त नहीं हो सकेगी; आकुलता का वेदन ही भोगना पड़ेगा।

लेकिन उपरोक्त प्रकार से सब कुछ समझ में आ जाने पर भी हमारी परिणति में तो किंचित् मात्र भी परिवर्तन, अनुभव में नहीं आता। और मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो जाने की बात भी अनुभव में नहीं आती। इसलिये यह समझने की जिज्ञासा है कि उपरोक्त सब कुछ समझ लेने पर भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति आरंभ होने के लिये, क्या कमी पूर्ति करना शेष रह जाता है ?

देशनालब्धि की मर्यादा

समझ लेने मात्र से ही, परिणति में परिवर्तन नहीं हो जाता

समझने का कार्य तो धारणा ज्ञान में हो जाता है, लेकिन उसके समझ लेने मात्र से रुचि में परिवर्तन तो नहीं हो जाता ? अत: परिणति में परिवर्तन का मूल आधार तो रुचि का परिवर्तन होना है। जैसे किसी लौकिक शिक्षा अथवा विषय का ज्ञान भी अपने धारणा ज्ञान में हो जाता है उससे रुचि का क्या संबंध रहता है। उसीप्रकार आत्मा के संबंध की भी जानकारी धारणा ज्ञान में हो जाती है इससे रुचि परिवर्तन होना कैसे संभव हो सकता है?

प्रश्न :— फिर जिनवाणी में आगम के अध्ययन की इतनी महिमा क्यों की गई है। यहाँ तक कथन आता है कि आगम अभ्यास के बिना मुनिपना भी यथार्थ नहीं है। प्रवचनसार की गाथा २३६ में कहा है कि :—

"इस लोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है, उसके संयम नहीं है। इसप्रकार सूत्र कहता है और असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है?

उपरोक्त गाथा का स्पष्ट आशय है कि आगम अभ्यास से आत्म दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। आप बतलाते हैं कि आगम ज्ञान तो मात्र धारणा में ही रह जाता है, उससे सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन नहीं होगा। यह बात परस्पर विरोधी लगती है?

समाधान :— उक्त गाथा का अभिप्राय बिल्कुल सत्य है, गाथा में स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन आगम के अभ्यास बिना नहीं हो सकता। क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यथार्थ मार्ग तो आगम अभ्यास से ही प्राप्त होगा। मार्ग यथार्थ प्राप्त हुए बिना, प्राप्तव्य कैसे प्राप्त हो सकता है। अत: आगम तो मार्गदृष्टा मात्र है। उस मार्ग का अनुसरण करने पर

ही तो प्राप्तव्य अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकेगा ? जैसे प्रेमकुमार को आत्माराम से मिलना हो लेकिन वह आत्माराम को पहिचानता हीं नहीं हो तो, विचार करिये, प्रेमकुमार को आत्माराम से मिलने के लिये क्या प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी? सबसे पहिले किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढना पड़ेगा, जिसने आत्माराम को प्रत्यक्ष देखा हो। तत्पश्चात् उसका समागम करके उससे आत्माराम के ऐसे लक्षणों अर्थात् चिन्हों की जानकारी लेनी होगी जो चिन्ह आत्माराम ही में मिलें अन्य किसी में नहीं मिलें। फिर उन चिन्हों-लक्षणों को भली प्रकार, दृढ़तापूर्वक समझकर निर्णय में लेकर उन लक्षणों को अपने धारणा ज्ञान में ऐसा दृढता के साथ बैठाना पड़ेगा कि वे कालांतर में भी विस्मृत नहीं हों। तत्पश्चात् आत्माराम को ढूँढने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। ढूँढने का कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व, उपरोक्त प्रक्रिया को सम्पन्न करना कितना आवश्यक प्रतीत होता है। उपरोक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है।

विचार करिये उपरोक्त प्रक्रिया अपनाये बिना क्या आत्माराम को ढूँढ लेने के लिये अन्य कोई भी प्रक्रिया सफल हो सकती है? नहीं हो सकती। इसीप्रकार अनादिकाल से अपरिचित आत्मतत्व पहिचानने के लिये भी, उपरोक्त प्रक्रिया ही अपनानी पड़ेगी, अन्य कोई उपाय है नहीं।

सर्वप्रथम तो जो आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर चुके हों, ऐसे ज्ञानीपुरुष की खोज करनी होगी, फिर उनका समागम प्राप्त करना पड़ेगा। उनकी अनुपस्थिति में उनकी वाणी अर्थात् आगम के अभ्यास द्वारा, उस अपरिचित आत्मा को प्रत्यक्ष करने की तीव्र अभिलाषा अर्थात् रुचि एवं लगन के साथ, योग्य चिन्हों की तलाश करके उसके चिन्हों अर्थात् लक्षणों को संशय, विमोह, विभ्रम से रहित पूरी लगन के साथ समझना पड़ेगा और दृढता व रुचिपूर्वक पूर्वापर विरोध रहित पक्का निर्णय करना पड़ेगा। फिर ऐसे निर्णय को धारणा ज्ञान में ऐसा धारण

करना होगा, कि कालांतर में भी वह स्मृति में बना रहे। यहाँ तक का कार्य तो द्रव्यश्रुत के आलंबन से अर्थात् माध्यम से हो जावेगा। लेकिन अब सत्समागम अथवा आगम अभ्यास के द्वारा जो मार्ग समझा गया है, उसका प्रयोग करने का कार्य बाकी रह जाता है। वह प्रयोग तो अपनी पर्याय अर्थात् परिणति में ही करना होगा ? क्योंकि आत्मा का अनुभव भी तो अपनी पर्याय में ही होना है। वह अनुभव द्रव्यश्रुत को तो नहीं होगा, वह तो अचेतन है, वह तो अनुभव अर्थात् सुख-दुःख का वेदन कर ही नहीं सकता? इससे स्पष्ट है कि आगम अर्थात् समस्त द्वादशांग तो मार्ग दृष्टा है। उसके रुचिपूर्वक अभ्यास करने से यथार्थ मार्ग समझा जा सकता है, आत्मानुभव नहीं हो सकता। उस मार्ग का अनुसरण करने से अर्थात् समझे गये यथार्थ मार्ग के अनुसार, अपनी परिणति में परिवर्तन करने से ही आत्मानुभव प्राप्त हो सकेगा। निष्कर्ष यह है कि आगम के अभ्यास मात्र से परिणति में परिवर्तन नहीं आ सकता ।

आगम तो अगाध है, उसमें से आत्मदर्शन करने की विधि कैसे समझी जावे ?

उपरोक्त प्रश्न का समाधान आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने पंचास्तिकाय ग्रंथ की गाथा संख्या १४६ में एक प्राचीन गाथा प्रस्तुत की है, वह गाथा और उसका अर्थ निम्नप्रकार है :—

"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खिव्वं जं जरमरणं स्वयं कुणई॥"

अर्थ :— "श्रुतियों का अंत नहीं है (शास्त्रों का पार नहीं है) काल अल्प है और हम दुर्मेध मंद बुद्धि वाले हैं, इसलिये मात्र वही सीखने योग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे।"

इसीप्रकार का अभिप्राय पं. भूधरदासजी ने भी जैन शतक में व्यक्त किया है उसी पद्य का अंश है :—

"जीवन अलप आयु बुद्धि बल हीन, तामें आगम अगाध सिंधु कैसे ताहि डाकि है। (अर्थात कैसे पूरा करेंगे)

द्वादशांगमूल एक अनुभव अपूर्वकला,
भवदाधहारी घनसार की सलाक है।
यही एक सीख लीजे याही को अभ्यास कीजे,
याको रस पीजे ऐसी वीर जिनवाक् है।
इतनों ही सार यही आतम को हितकार,
यही लों मदार और आगे ढूकढाक है। (अर्थात् जंगल है)

उपरोक्त गाथा में कथित "जरा मरण के नाश का उपाय" ही उपरोक्त कवित्त में "द्वादशांग मूल एक अनुभव अपूर्वकला" कहकर स्पष्ट कर दिया है और वह "अनुभव अपूर्वकला" कैसे प्राप्त होगी उसका स्पष्टीकरण पंचास्तिकाय की गाथा १७२ की टीका के निम्न अर्थ से स्पष्ट होता है :—

"यह, साक्षात् मोक्षमार्ग सार-सूचन द्वारा शास्त्र तात्पर्यरूप उपसंहार है (अर्थात् यहाँ साक्षात् मोक्षमार्ग का सार क्या है उसके कथन द्वारा शास्त्र का तात्पर्य कहने रूप उपसंहार किया है।)

साक्षात् मोक्षमार्ग में अग्रसर सचमुच वीतरागपना है। इसलिये वास्तव में "अर्हंतादिगत राग को भी, चंदन वृक्षसंगत अग्नि की भाँति, देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अंतर्दाहका कारण समझकर, साक्षात् मोक्ष का अभिलाषी महाजन सबकी ओर के राग को छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दुःख सुख की कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, खलबलाते हुए जल समूह की

अतिशयता से भयंकर है ऐसे भवसागर को पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृत समुद्र को अवगाह कर, शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है।

विस्तार से बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।

तात्पर्य द्विविध होता है — सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें, सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र में प्रत्येक गाथा में प्रतिपादित किया गया है, और शास्त्रतात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है :—

सर्व पुरुषार्थों में सारभूत ऐसे मोक्षतत्व का प्रतिपादन करने के हेतु से जिसमें पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य के स्वरूप के प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तु का स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थों के विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बंधमोक्ष के संबंधों (स्वामी), बंधमोक्ष के आयतन (स्थान) और बंध-मोक्ष के विकल्प (भेद) प्रगट किये गये हैं, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है और साक्षात् मोक्ष के कारणभूत परम वीतरागपने में जिसका समस्त हृदय स्थित है - ऐसे इस यथार्थ परमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।

द्वादशांग का सार एकमात्र वीतरागता

उपरोक्त सभी आगम आधारों से हमारी उपरोक्त शंका निर्मूल हो जाती है और स्पष्ट हो जाता है कि हमें तो मोक्ष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट शांति प्राप्त करना है। उसका उपाय तो मात्र एक वीतरागता ही है। इसलिये समस्त द्वादशांग का अभ्यास करो तो उसमें से भी मात्र एक ही मार्ग समझना होगा कि "आत्मा में वीतरागता कैसे उत्पन्न हो।" उसी उपाय को किसी भी ग्रंथ में से अथवा ज्ञानी पुरुषों के समागम द्वारा अथवा जहाँ से भी जैसे भी प्राप्त हो सके अर्थात् समझ में आ सके, वहीं से एकमात्र वही मार्ग प्राप्त कर लेना चाहिए। यही मात्र एक आवश्यक

कर्तव्य है और यही द्वादशांग में सारभूत है। उपरोक्त आगम वाक्यों का भी मात्र यही एक सारांश है।

वीतरागता का स्वरूप क्या ?

वास्तव में वीतरागता तो आत्मा का स्वभाव है क्योंकि आत्मा जिस स्वभाव में अनन्तकाल तक स्थित रह सकता है, वही तो स्वभाव हो सकता है। उस स्वभाव में कहीं रागादि का अंश भी नहीं है इसलिए आत्मा का स्वरूप तो राग का अभाव रहने से निराकुलता रूपी आनंदस्वभावी ही है। यही आत्मा का अस्ति की अपेक्षाओं वास्तविक रूप है। उसी स्वरूप को राग-द्वेषादि विकारी भावों के अभाव की अपेक्षा द्वारा वर्णन करके नास्ति के स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है।

क्योंकि हमारे को अनादिकाल से राग-द्वेषादिक का ही अनुभव हो रहा है, इसलिये हम उस ही को जानते हैं, पहिचानते हैं और उसी का वेदन हमें दुःखकर भी अनुभव हो रहा है। इसलिये उसी के अभाव को, वीतरागता का लक्षण कहकर वीतरागता का ज्ञान कराया है। जिसका साक्षात् आदर्श-मॉडल भगवान सिद्ध की आत्मा है। उनकी आत्मा में जो भी वर्तमान में व्यक्त प्रगट है, वही वीतरागता आत्मा की वीतरागता का अस्ति अपेक्षा स्वरूप है। वह दशा अपनी आत्मा की पर्याय में प्रगट करना ही आत्मार्थी का एकमात्र उद्देश्य है।

इसलिये संक्षेप से तो तात्पर्य यही है कि समस्त द्वादशांग को पढ़कर भी एकमात्र वीतरागता प्राप्त करने का उपाय ही समझने योग्य है। अर्थात् जिसप्रकार और जैसे भी हो उस ही प्रकार को अपनाकर उसमें से एकमात्र वीतरागता उत्पन्न करने का मार्ग ही समझ लेना और उसके अनुसार अपने उपयोग को आत्मसन्मुख कर लेना ही उस मार्ग का अनुसरण करना है, आत्मा को अपना उद्देश्य सफल करने का यही एकमात्र उपाय है। भगवान महावीर स्वामी की आत्मा ने पूर्व भव में सिंह जैसी

तिर्यंच दशा में भी, बिना कोई शास्त्र अभ्यास करे, इस मार्ग को अपनाकर उनने जब भी अपना उपयोग आत्मसन्मुख कर अनुसरण किया तो वे भी पूर्ण वीतरागी होकर तीर्थंकर पद प्राप्तकर सिद्ध दशा को प्राप्त हुए।

संक्षेप में सब कथनों का तात्पर्य यही है कि जैसे भी बन सके उपरोक्त उपाय से अपने आत्मा में एकमात्र वीतरागता प्रगट करने का पुरुषार्थ करने योग्य है, क्योंकि उस ही से आत्मा चरम दशा को प्राप्त कर सकता है। इन सब कारणों से वीतरागता उत्पन्न करने का यथार्थ मार्ग समझना ही एकमात्र कल्याणकारी है, यह समझ में सहज ही आ जाने योग्य है।

आत्मा के स्वरूप को अस्ति की मुख्यता से समझने की प्रणाली

आत्मा का अस्ति की अपेक्षा स्वरूप समझने के लिए सर्वप्रथम भगवान सिद्ध की आत्मा को अपने ज्ञान में उतारना चाहिए। भगवान सिद्ध की आत्मा द्रव्य गुण तथा पर्याय तीनों से एकरूप हो गयी है। अर्थात् उनका जैसा द्रव्य था, जैसे गुण थे, वैसा ही पूर्ण सामर्थ्य पर्याय में प्रगट हो गया। वेदन और ज्ञान का विषय पर्याय से ही तो प्रगट होता है। सारी जिनवाणी में पर्याय के माध्यम से ही हरेक वस्तु को समझाया गया है। इसलिये हमें भी यदि सिद्ध के स्वरूप को समझना है तो, उनकी पर्याय में जो-जो सामर्थ्य एवं विशेषताऐं प्रगट हुई हैं, उनको ही मुख्य बनाकर समझने से हमको हमारी आत्मा का स्वरूप समझ में आ सकता है तथा उसको ही अपना ध्येय बनाने से मेरा आत्मा भी उनके समान बन सकता है।

वास्तव में द्रव्य अपेक्षा से तो मेरा आत्मा भी सिद्ध की आत्मा जैसा ही है। सिद्ध भगवान के द्रव्य में जो सामर्थ्य न होता तो जो सामर्थ्य और विशेषताऐं सिद्ध भगवान की पर्याय में प्रगट हुए वे सब, द्रव्य में ही

त्रिकाल विद्यमान नहीं होते तो कहाँ से प्रगट हो गये? इसी के अनुसार, संसार के सभी जीवों के द्रव्य भी तो, वैसे ही गुण और पर्याय वाले हैं और पर्याय में इन स्वभावों के प्रगट होने का सामर्थ्य भी है। क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा तो सभी जीव उसी जाति के ही हैं। इसलिये भगवान सिद्ध की पर्याय में जो प्रगटता हुई है, उससे कोई भी जीवद्रव्य कम अथवा अधिक सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता। हरेक द्रव्य -"उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" है। भगवान सिद्ध की आत्मा भी "उपादव्ययध्रौव्य- युक्तं सत्" है इसलिए अनन्त जीवराशि में से किसी में भी, द्रव्य अपेक्षा कोई अन्तर नहीं हो सकता और न है ही।

प्रश्न :— फिर संसारी और सिद्ध में इतना भारी अन्तर क्यों है, यह तो प्रत्यक्ष परस्पर विरोधी दिखता है ?

समाधान :— जो सिद्ध भगवान की पर्याय में सामर्थ्य और विशेषताऐं प्रगट हुई हैं वे जीवमात्र के ध्रुवद्रव्य में तो सब की सब जैसी की तैसी सामर्थ्य और विशेषताऐं निरन्तर विद्यमान थीं व रहती हैं, लेकिन पर्याय का स्वभाव ही क्षण-क्षण में बदलने का है इसलिये वे पर्यायें अपना रूप बदल सकती हैं और बदलती हैं। इसीलिये संसारी जीव के विकारी रूप एवं सिद्ध की पर्याय के रूप में महान अन्तर दिखाई देता है? और दिखना भी चाहिए। प्रवचनसार गाथा ११४ की टीका के भावार्थ में लिखा है कि ***"प्रत्येक द्रव्य सामान्य विशेषात्मक हैं, इसलिये प्रत्येक द्रव्य वह का वही भी रहता है और बदलता भी है।"*** इसलिये मेरी पर्याय और सिद्ध की पर्याय में अंतर है, हमारी वर्तमान पर्याय जो विकारी रूप में विद्यमान है वह पर्याय के बदलने के स्वभाव के कारण नाश होकर सिद्ध के जैसी निर्मल पर्याय हो सकती है, यह विश्वास होता है और यह भी पुरुषार्थ जाग्रत होता है कि यह पर्याय मेरा स्वभावभाव नहीं है, और जो पर्याय अनन्त काल तक एक सरीखी बनी रहे और मेरे

द्रव्य स्वभाव जैसी हो, वही मेरी स्वाभाविक पर्याय है। ऐसी पर्याय सिद्ध भगवान में प्रगट है इसलिये उनके आत्मा का स्वरूप जानने से ही अपने आत्मा के स्वरूप की पहिचान हो सकती है। अतः अस्ति की अपेक्षा आत्मा का स्वरूप, प्रत्यक्ष रूप से समझने की सरल प्रक्रिया भगवान सिद्ध की पर्याय को समझना है। अपनी आत्मा की स्वाभाविक दशा समझने के लिये आचार्य श्री कुंदकुंद ने समयसार में निम्नप्रकार से समझाने की चेष्टा की है।

गाथा १४ के गाथार्थ में आत्मा के स्वरूप को नास्ति की मुख्यता से निम्नप्रकार से समझाया है कि "जो नय ज्ञान की पर्याय आत्मा को बंध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग से रहित - ऐसे पाँच भाव रूप में देखता है; उसे हे शिष्य? तू (आत्मा के द्रव्य के स्वभाव को देखने वाली ज्ञान की) पर्याय को शुद्धनय जान।"

गाथा ३८ के गाथार्थ में उसी आत्मा के स्वरूप को अस्ति की मुख्यता से समझाया है :—

"दर्शन ज्ञान चरित्र रूप परिणित आत्मा अर्थात् सम्यग्ज्ञानी आत्मा यह जानता है कि निश्चय से अर्थात् वास्तिवकपने से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है ऐसा निश्चय है (यह निर्णय है)।"

गाथा ७३ के गाथार्थ में आत्मा का स्वरूप अस्ति-नास्ति दोनों अपेक्षापूर्वक समझाया है।

"ज्ञानी विचार करता है, कि — निश्चय से अर्थात् वास्तविक रूप से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, उस स्वभाव

में रहता हुआ, उसमें चैतन्य अनुभवन में लीन होता हुआ मैं इन क्रोधादिक सर्वआश्रवों को क्षय को प्राप्त कराता हूँ।"

उपरोक्त तीनों गाथाओं के माध्यम से हमको सहज ही स्पष्टतया समझ में आ जाना चाहिये कि उपरोक्त सभी भावों का अभाव सिद्ध भगवान की आत्मा में है, तथा अस्ति अपेक्षा से उनमें ज्ञानदर्शन स्वभावपूर्ण विद्यमान है।

सारांश यह है कि मेरे आत्मा में जो भाव वर्तमान में मेरे को अस्ति रूप से अनुभव में आ रहे हैं, उन सभी भावों का सिद्ध भगवान की आत्मा में अभाव है। हमको समझने में सरल पड़े, इसलिये हमारे अनुभव में आती हुई अशुद्धता के अभाव के द्वारा नास्ति की मुख्यता से, सिद्ध की आत्मा का परिचय कराया गया है। इसीप्रकार जिस ज्ञानदर्शन स्वभाव की परिपूर्णता सिद्ध भगवान में है, उसी ज्ञानदर्शन स्वभाव की मेरी आत्मा में विद्यमानता होते हुए भी अपूर्णता है। मुझे मेरी यह अपूर्णता निरंतर अनुभव में भी आ रही है एवं इसकी पूर्णता प्राप्त करने के लिये निरतंर मेरी अभिलाषा भी बनी रहती है। इन सब कारणों से ज्ञान-दर्शन स्वभाव की मेरे में, अपूर्णता के द्वारा, उस स्वभाव की सिद्ध भगवान में पूर्णता का, हमको सहज रूप से विश्वास हो जाता है। इसप्रकार अस्ति की अपेक्षा भगवान सिद्ध की आत्मा के स्वरूप का भी मुझे सहज ही विश्वास हो जाना चाहिये।

उपरोक्त प्रकार से भगवान सिद्ध की आत्मा के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्याय से समझने से, हमारे आत्मा का स्वरूप और उस स्वरूप की विद्यमानता अपने त्रिकाली भाव रूपी आत्मा के ध्रुवस्वभाव में विद्यमानता को अस्ति की मुख्यता से समझने की अत्यन्त सरल प्रक्रिया है, और यही आत्मा का स्वभाव शुद्ध नय का विषय है। जिसका आश्रय करने से

सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और ऐसा जीव ही सम्यग्दृष्टि है। जैसाकि आचार्य कुंदकुंद ने समयसार की गाथा संख्या ११ में कहा है :—

अर्थ :— "व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा ऋषिवरों ने बताया है, जो जीव भूतार्थ का अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से वास्तव में सम्यग्दृष्टि है।"

इसप्रकार अस्ति की मुख्यता से आत्मा के स्वरूप की यथार्थ समझ ही, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सरल से सरल उपाय है।

देशनालब्धि की पूर्णता का स्वरूप एवं उसकी आवश्यकता?

देशनालब्धि का स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २६१ पर निम्न प्रकार बताया गया है —

"जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो सो देशनालब्धि है।"

उपरोक्त स्वरूप का मर्म समझने से सहज ही समझ में आ जाता है कि मात्र सुन लेना देशनालब्धि नहीं है तथा ज्ञान के क्षयोपशम की धारणा में लेकर ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ा लेना भी देशनालब्धि नहीं है, वरन् विचार करना अर्थात् आगम समर्थित युक्तियों के द्वारा यथार्थ निर्णय की पराकाष्ठा रूप अपने आत्मा के स्वरूप को, संशय-विमोह-विभ्रम रहित शंका रहित होकर स्पष्ट समझ लेने को ही सच्ची देशनालब्धि बताया है, यह निर्णय तो विकल्पसहित दशा में ही आत्मार्थी को होता है। इसके पश्चात् ही प्रायोग्यलब्धि का पुरुषार्थ प्रारंभ हो सकता है।

देशनालब्धि में तो आत्मा का ज्ञान परलक्ष्यी ही बना रहता है। उसी परलक्ष्यी ज्ञान में ही यथार्थ निर्णय होता है। लेकिन प्रायोग्यलब्धि के प्रारंभकाल से ही वही ज्ञान आत्मलक्ष्यी की ओर अग्रसर होकर उस ही निर्णय के विषय को प्राप्त करने का अर्थात् अपने उपयोग में उसको

सीधा विषय बनाने के लिये पूर्व कृत निर्णय को प्रयोग में लाने का पुरुषार्थ करता है, और इस ही पुरुषार्थ की पराकाष्ठा वह करणलब्धि है, जिस करणलब्धि के पुरुषार्थ को प्राप्त आत्मा का उपयोग इतना बलिष्ठ हो जाता है कि वह नियम से निर्विकल्प होकर आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन अर्थात् अनुभव कर ही लेता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही लेता है, वापिस नहीं लौटता अर्थात् सम्यग्दर्शन होने के पूर्व अन्य ज्ञेयों की ओर झुकता ही नहीं है फलतः विकल्प खड़ा होने का अवकाश ही नहीं रहता और निर्विकल्प रहने से आत्मा के स्वाभाविक आनंद के साथ अत्यन्त तृप्त हो जाता है। लेकिन उपयोग के आत्मा में रुके रहने की निर्बलता के कारण अर्थात् चारित्र की निर्बलता के कारण उपयोग आत्मानन्द से वंचित होकर विकल्प की भूमिका में आ जाता है।

लेकिन प्रायोग्यलब्धि में यह आत्मा स्वरूपलक्ष्यी होने की ओर अग्रसर होने पर भी सविकल्पदशा में रहते हुए ही, पूर्व में प्राप्त देशनालब्धि के निर्णय के विषय में ही उग्र रुचिपूर्वक आत्मा को प्राप्त करने के उद्देश्य से उपयोग को एकाग्र करने का पुरुषार्थ करता है, वही प्रायोग्यलब्धि का अस्ति की अपेक्षा से वास्तविक स्वरूप है। उन भावों के फलस्वरूप द्रव्य कर्मों की स्थिति अनुभाग भी क्षीण होते जाते हैं, उसके द्वारा नास्ति की मुख्यता से आत्मा के भावों के स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है, उसका विस्तार से वर्णन लब्धिसार-क्षपणासार आदि ग्रंथों से जाना जा सकता है। संक्षेप से मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २६१ से जान लेना। इतना अवश्य है कि देशनालब्धि के विकल्प परलक्ष्य की मुख्यता पूर्वक होते हैं अतः वे क्षीण नहीं होते, मात्र अशुभ के स्थान पर शुभरूप होते रहते हैं। लेकिन प्रायोग्यलब्धि में विकल्प स्वरूप लक्ष्यी रहने से, वे विकल्प उत्तरोतर क्षीण होते जाते हैं फलतः आत्मदर्शन के काल में, वे समाप्त होकर आत्मा निर्विकल्प हो जाता है।

यहाँ तो हमारा विषय सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व अर्थात् प्रायोग्यलब्धि एवं करणलब्धि के पूर्व, देशनालब्धि की पूर्णता का स्वरूप क्या है? वह समझना है।

प्रायोग्यलब्धि एवं करणलब्धि के पुरुषार्थ का स्वरूप क्या है? एवं उसके लिये पुरुषार्थ कैसे प्रारम्भ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है, यह विषय आगे भाग ६ में स्पष्ट करने की चेष्टा की जावेगी। यहाँ तो हम देशनालब्धि की अन्तिम दशा को समझने का प्रयास करेंगे। क्योंकि देशनालब्धि की चरम दशा को प्राप्त होने पर देशनालब्धि द्वारा निर्णीत आत्मस्वरूप को अपने उपयोग में प्रत्यक्ष करने की तीव्र रुचि जाग्रत होने पर ही प्रायोग्यलब्धि में पदार्पण होता है। देशनालब्धि के द्वारा जब तक उस आत्मस्वरूप का संशयरहित, अकाट्य निर्णय नहीं हो जावेगा तबतक निःशंक होकर पुरूषार्थ आत्मसन्मुख अग्रसर कैसे हो सकेगा? इसीलिये उस आत्मस्वरूप का संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथार्थ निर्णय होने का इतना ज्यादा महत्व है, जितना कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का। आत्मा के स्वरूप के रुचिपूर्वक यथार्थ और निःशंक निर्णय के बिना आत्मलक्ष्यी पुरुषार्थ ही प्रारंभ नहीं होगा तो आत्मदर्शन तो असंभव ही है। अतः देशनालब्धि की चरमदशा के स्वरूप को समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण होने से, हम इस भाग में उस ही को समझने का प्रयास करेंगे।

सम्यक्त्व सन्मुख जीव को पांचलब्धियाँ एवं उनका स्वरूप

देशनालब्धि के निर्णय का स्वरूप समझने के लिए पहिले उस आत्मार्थी की आत्मा के भावों की पात्रता कैसी होती है, यह समझना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना देशना का स्वरूप समझना। क्योंकि वह देशना पात्रता के बिना मात्र क्षयोपशम ज्ञान का विषय बनकर ही रह जावेगी।

आगमानुसार देशनालब्धि के पूर्व भी विशुद्धिलब्धि का होना अनिवार्य है। विशुद्धिलब्धि का सामान्य स्वरूप तो कषायों की मंदता रूप परिणाम है लेकिन दान आदि में भी कोमल भाव हो जाते हैं ऐसे भाव किंचित विशुद्ध दिखते हुए भी वे विशुद्धिलब्धि के परिणाम नहीं माने जा सकते इसलिये पहिले यह जानना आवश्यक है कि इसप्रकार की विशुद्धि के परिणाम कार्यकारी नहीं हो सकती।

लब्धियों के स्वरूप बताने वाले प्रकरण में पूर्व की तीनों लब्धियों का स्वरूप मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २५७ पर निम्नप्रकार दिया है :—

"कोई मंदकषायादिका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्व विचार करने की शक्ति हुई तथा मोह मंद हुआ, जिससे तत्त्व विचार में उद्यम हुआ, और बाह्यनिमित्त देव-गुरु-शास्त्रादिक का हुआ, उनसे सच्चे उपदेश का लाभ हुआ।"

तथा इसी ग्रंथ के पृष्ठ २६१ पर भी निम्नांकित है :— "मोह का मंद उदय आने से मंदकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्व विचार हो सके सो विशुद्धलब्धि है।"

उपरोक्त प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि क्षयोपशम तो सैनी पंचेन्द्रिय मात्र को हो जाता है, लेकिन मात्र वह क्षयोपशम उपरोक्त लब्धि नहीं माना जा सकता। लेकिन जिस क्षयोपशम का तत्त्व निर्णय करने में उपयोग हो तो, मात्र ऐसे क्षयोपशम को ही आत्महित के लिये कार्यकारी होने से, लब्धि के रूप में माना गया है।

इसीप्रकार जिस कषाय की मंदता में अर्थात् विशुद्धता में तत्त्वविचार करने में उद्यम हो, मात्र वह विशुद्धता ही विशुद्धिलब्धि मानी गई है। लेकिन जिस विशुद्धता में संसार, देह, भोगों के प्रति किन्हीं कारणों से किंचित उदासीनता तो आ गयी हो उन कषायों की मंदता के समय

विषयों के सेवन के प्रति गृद्धता की कमी एवं कषाय की उग्रता में कुछ कमी भी आ गई हो और उसके कारण वह दया-दान-पूजा-अनुकंपा आदि कार्यों के करने में सलंग्न भी हो गया हो, लेकिन तत्त्व निर्णय संबंधी कार्यों में उद्यमवंत नहीं हो तो, ऐसी कषाय की मंदता के परिणाम भी विशुद्धिलब्धि मानी जाने योग्य नहीं हैं।

लेकिन वही कषायों की मंदता रूप विशुद्धिलब्धि प्राप्त क्षयोपशम, जब तत्त्वविचार के लिये उद्यमवंत हुआ, तो वह विशुद्धिलब्धि संज्ञा को प्राप्त हो जाती है। वही विशुद्धतासहित होकर क्षयोपशम, जो तत्त्व विचार की ओर उद्यमवंत हुआ वही क्षयोपशम ज्ञान, जब तत्त्व विचार में संलग्न रहते हुए वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार करते-करते निर्णय हुआ वह स्वरूप उसके धारणा ज्ञान में जम जावे और उसी निज आत्मतत्त्व को रुचिपूर्वक निर्णय करने में संलग्न रहते-रहते, परलक्ष्यी ज्ञान में भी, सिद्ध भगवान के जैसा अपने आत्मा के स्वरूप का निर्णय हो जावे, तब तक का सम्पूर्ण पुरुषार्थ ही देशनालब्धि है।

संक्षेप में, विशुद्धलब्धि को प्राप्त क्षयोपशम जब तक तत्त्वविचार में उद्यमवंत रहता है, तब तक वह क्षयोपशमज्ञान विशुद्धिलब्धि वाला है और जब वही क्षयोपशमज्ञान तत्त्व विचार में संलग्न रहते हुए, ही अपना आत्मस्वरूप त्रिकाली-अकर्ता-ज्ञायक भाव जो सिद्ध भगवान जैसा है उसमें अहंपना अर्थात् यह त्रिकाली ज्ञायक अकार्त भाव ही में हूँ ऐसा विश्वास - ऐसा अहंपना हो जावे। साथ ही हो रहे पर्यायगत अनेक प्रकार के भाव, जो मेरे ज्ञान में उत्पन्न होते हुए ज्ञात हो रहे हैं, वे सब अब तक मेरे को मेरे ही भाव लगते थे, लेकिन वे सब मेरे भाव नहीं हैं, ऐसा विश्वास में आ जावे तथा मैं तो एकमात्र त्रिकाली ज्ञायक भाव हूँ और मेरी ज्ञान क्रिया, जिसमें ये भाव भी ज्ञात हो रहे हैं, वही, एकमात्र मेरा कार्य है।

आदि-आदि विचारों द्वारा अपने अकर्ता ज्ञायक एक भाव में ही मेरापना-अहंपना निःशंक रूप से निर्णय में बैठ जावे? और साथ ही स्त्री, पुत्र, मित्र, आदि कुटुम्ब को तथा धन-वैभव व्यापार आदि को तथा शरीर आदि एवं शरीर से सम्बन्धित सभी पदार्थों को अभी तक अपना मानता था, उनमें भी परपना लगने लगे। विशेष क्या बचा अपने अंदर ही अनित्य स्वभावी पर्याय मात्र को चाहे वे पर्यायें शुभ हों, अशुभ हों अथवा शुद्ध हों, सभी में अपने से भिन्न पर वस्तु के समान, परपने की मान्यता, निःशंक निर्णय में बैठ जावे, तब तक का समस्त पुरुषार्थ ही देशनालब्धि है।

"मोक्षमार्ग प्रकाशक" के पृष्ठ २६१ पर देशनालब्धि का स्वरूप निम्न शब्दों में लिखा है :—

"तथा जिनदेव के उपदिष्ट तत्त्व का धारण हो, विचार हो, सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है।"

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि देशनालब्धि के काल में ही आत्मार्थी को आत्मस्वरूप का इतना स्पष्ट और यथार्थ निर्णय हो जाना चाहिए कि भगवान सिद्ध की आत्मा का जो स्वरूप है अर्थात् जो आत्मा का स्वरूप-स्वभाव उनमें प्रगट विद्यमान है। उस पूर्ण स्वभाव वाला ही "मैं" वर्तमान में विद्यमान हूँ। इसप्रकार सम्पूर्ण विषय निःशंक रूप से उसकी समझ में और विश्वास में तो, देशनालब्धि में ही हो जाता है। निर्विकल्प दशा होने पर, इस निर्णय का विषय, अनुभव में भी आने पर, श्रद्धा ज्ञान में वही प्रमाणित हो जाता है। जो अनुभव में ज्ञात हुआ, वह ही मेरे निर्णय में आया था अतः यही मेरी आत्मा का वास्तविक स्वरूप है फलतः वह ज्ञानी हो जाता है। सविकल्प दशा में अर्थात् अनुभव के पूर्व जिनवाणी के अध्ययन एवं गुरु उपदेश से, जो आत्मा का स्वभाव, "सब का सर्वदा

अकर्ता एवं त्रिकाल ज्ञायक रूप है," ऐसा समझा था, वही स्वभाव भगवान सिद्ध की पर्याय में प्रगट हो गया और वही मेरे अनुभव में आया है। अतः सभी प्रकार से ऐसा निःशंकतापूर्वक निर्णय हो जाता है।

उपरोक्त निःशंक निर्णय होने के साथ-साथ अगर आत्मा को प्राप्त करने की उग्र तमन्ना-रुचि नहीं हो तो वह निर्णय भी फलीभूत नहीं हो पाता। उपयोग में आत्मा को प्रगट करने अर्थात् प्राप्त करने की तीव्रतम रुचि ही, उपयोग की दिशा, जो परसन्मुख बनी हुई थी उसको आत्मलक्ष्यी करने का मूल उपाय है। और उसका आत्मलक्षी हो जाना ही वास्तव में प्रायोग्यलब्धि का प्रारम्भ है। ऐसा ही रुचि का वेग, उस उपयोग की आत्मसन्मुखता को बढ़ाती हुई करणलब्धि को पार कराकर, आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करा देती है, यही आगम सम्मत यथार्थ पुरुषार्थ है।

सभी लब्धियों में आत्मरुचि का पृष्टबल

सैनी पंचेन्द्रिय मात्र को, किसी भी विषय को समझने की योग्यता तो प्राप्त हुई है। वह वर्तमान काल के पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं की गई है, वह तो पूर्व भव में किये हुए शुभ भावों के फलस्वरूप प्राप्त हो गई है। लेकिन अब उस क्षयोपशम का उपयोग किस विषय में करना यह तो मात्र अपनी वर्तमान रुचि पर ही निर्भर करता है। संसार की रुचि होने पर वही क्षयोपशम लौकिक कार्यों में लगता है और आत्मरुचि होने पर वही क्षयोपशम तत्त्वनिर्णय अर्थात् आत्मा का स्वरूप समझने में कार्य करने लगता है। यह तो हर एक को सहज रूप में समझ में आ सकता है। इसप्रकार रुचि का कार्य तो सबसे प्रथम की क्षयोपशमलब्धि में ही प्रारम्भ हो जाता है।

आत्मा को प्राप्त करने की वह रुचि होने से कषायों की मंदता तो हो ही जाती है। कषायों की मंदता के समय में अर्थात् जब कषाय की मंदता हो उस समय, भगवान अरहंत व सिद्ध के स्वरूप चिंतवन द्वारा

अथवा जिनवाणी के अध्ययन द्वारा अथवा ज्ञानी पुरुष के समागम एवं उपदेश द्वारा, संसार-देह-भोगों के प्रति अनादिकाल से जो रुचि लगी हुई है, वह रुचि ही उस ओर से कुछ ढीली-कमजोर होकर, सच्चा सुख प्राप्त करने के प्रति आकर्षित होती है। ऐसी रुचि उत्पन्न होना ही वास्तव में विशुद्धिलब्धि है।

यहाँ यह समझना महत्वपूर्ण है कि, मात्र कषाय की मंदता हो जाना ही विशुद्धिलब्धि का स्वरूप नहीं है। वरन् जिस कषाय की मंदता के काल में सच्चा सुख अर्थात् इन्द्रिय सुखों के विपरीत आत्मसुख प्राप्त करने की रुचि अर्थात् प्यास जगी हो वह जिज्ञासा अर्थात् रुचि ही विशुद्धिलब्धि है। क्योंकि जिसको प्यास ही नहीं जगी हो, उसको ठंडा एवं मिष्ठ जल भी मिले तो भी उस पेय को लेने की रुचि ही उत्पन्न नहीं होगी। लेकिन जिसको प्यास जगी हो तो वह पुरुष, जल को प्राप्त करने के प्रयास में संलग्न होगा ही, और मिलने पर उसका भरपेट प्रयोग भी करेगा ही। इससे स्पष्ट रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि जिस जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हुई हो, तो ऐसे आत्मार्थी को पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता वरन् वह पुरुषार्थ करे बिना रह ही नहीं सकता। जिनवाणी का कथन भी है कि "रुचि अनुयायी वीर्य"। अतः आत्मरुचि जाग्रत हो जाने से आत्मा का वीर्य तो उस ओर लगे बिना रह ही नहीं सकता। जिसप्रकार किसी भी इन्द्रियविषय का लोलुपी प्राणी उस विषय की पूर्ति करने के लिये अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ ही उस ओर झोंक देता है। उस विषय की पूर्ति के लिये सहज रूप से, बिना प्रयास के भी उसको विकल्प उठते रहते हैं, वीर्य का पूरा वेग उस रुचि की पूर्ति के लिये ही प्रयासरत रहता है। इसीप्रकार जिस प्राणी को आत्मरुचि जाग्रत हो जावे तो उसका वीर्य भी उसकी रुचि की पूर्ति करने में निरन्तर संलग्न हो ही जाता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३१२ में कहा है कि :—

"इसलिये जो विचार शक्ति सहित हो और जिसके रागादिक मंद हों- वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्व निर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्व निर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गंवाये- या तो मंदरागादि सहित विषय कषायों के ही कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहार धर्मकार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा।"

सारांश यह है कि आत्मार्थी को आत्मलाभ करने की यथार्थ रुचि उत्पन्न हुए बिना, कभी किसी भी लब्धि का प्रारंभ ही नहीं होता। क्योंकि ये पाँचों ही लब्धियाँ सम्यक्त्व सन्मुखजीव को ही होती हैं ऐसा जिनवाणी का कथन है। इसलिये आत्मार्थी को सर्वप्रथम यथार्थ रुचि उत्पन्न करना चाहिए। वास्तव में ऐसे भावों को ही जिनवाणी में विशुद्धिलब्धि कहा है। यहाँ तक क्षयोपशमलब्धि के साथ-साथ विशुद्धिलब्धि का स्वरूप समझा। आत्मार्थी देशनालब्धि में आगामी पुरुषार्थ क्या करता है? उसको समझने के लिये अब उसका स्वरूप समझेंगे।

देशनालब्धि में पुरुषार्थ क्या होता है?

"पुरुषार्थ अर्थात् वीर्य का उत्थान।" और वीर्य का उत्थान रुचि के अनुरूप ही होता है अर्थात् रुचि की पूर्ति में ही पुरुषार्थ निरंतर गतिशील बना रहता है। फलतः देशनालब्धि योग्य रुचि संपन्न आत्मार्थी, सांसारिक सभी कार्यों में अर्थात् धंधा-व्यापार आदि की संभाल में एवं कुटुम्ब प्रतिपालना आदि ग्रहकार्यों में व्यस्त रहते दीखते हुए भी, रुचि का वेग तो आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए निरन्तर लालायित बना रहता है एवं उसके पोषण के कार्यों के संयोग जुटाने के लिये प्रयत्नशील भी बना रहता है। सांसारिक कार्यों में, सफलता अथवा असफलता प्राप्त

होना अनिवार्य है और उनके कारण चिन्ताग्रस्त भी होता है। लेकिन ऐसे सभी प्रसंगों से प्राप्त अनुकूलता अथवा प्रतिकुलता होने पर भी, उन सब संयोगों को पूर्वकृत पुण्य एवं पाप कर्मों के फल जानकर-समझकर अपने मार्ग से विचलित नहीं होता अर्थात् रुचि यथावत् बनाये रखता है। अनुकूलता प्राप्त हो जाने पर उसमें एकमेक नहीं हो जाता अर्थात् अपने आत्मा की उत्कृष्टता को विस्मृत नहीं कर देता। इसीप्रकार प्रतिकूलता प्राप्त हो जाने पर, खेदखिन्न होकर भी आत्मरुचि को हानि नहीं होने देता। ऐसे सभी संयोगों के प्रति मध्यस्थभाव अर्थात् उपेक्षा बुद्धि बनाये रखते हुए, आत्मरुचि की हानि नहीं होने देता।

उपरोक्त प्रकार के सभी भाव कृत्रिम अर्थात् हठपूर्वक बनाये रखने की चेष्टा भी नहीं करता। उन सभी प्रसंगों के प्रति द्वेष बुद्धि पूर्वक अथवा किन्हीं भी कारणों से अरुचि उत्पन्न कर त्याग करने की अथवा उपेक्षा बुद्धि के भाव दिखाने की कृत्रिम चेष्टा भी नहीं करता।

उपरोक्त स्थिति प्राप्त होने पर आत्मार्थी, रुचिपूर्वक अपने आत्मा के स्वरूप को समझने के लिये अत्यंत आतुर हो जाता है, और यथार्थ स्वरूप के जानने के लिये सत्समागम, जिनवाणी का अध्ययन कर, उस विषय पर घोलन मंथन-विचार करने के प्रयास करता है आदि-आदि।

देशनालब्धि का प्रांरभ किसप्रकार?

विशुद्धिलब्धि प्राप्त आत्मार्थी को ही देशनालब्धि प्रारंभ होने की पात्रता होती है। इसलिये ऐसी पात्रता वाले आत्मार्थी के कैसे भाव होते हैं, उसका परिचय पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ २५७ पर निम्नप्रकार बताया है :—

"वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादितत्वों के तथा निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी

भावों के-इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ, परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है, तथा यहाँ सर्वनिमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उधम किया।"

उपरोक्त जिज्ञासा (आतुरता) होने पर वह आत्मार्थी सत्समागम की खोज करता है और जैसे भी बने वैसे, जहाँ भी संभव हो वहाँ पर पहुँचकर ज्ञानी पुरुष को ढूँढता है। ध्यान रहे जिस आत्मा का स्वरूप समझना है, उसके यथार्थ अनुभवी ऐसे ज्ञानी से ही आत्मा का स्वरूप यथार्थ समझा जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है। जिसको स्वयं उस आत्मा का अनुभव नहीं हुआ हो, ऐसा व्यक्ति उसको प्राप्त करने का समझने का मार्ग कैसे बता सकेगा ? जैसे कोई व्यक्ति जयपुर से बम्बई कभी गया ही नहीं हो तो, वह जो मार्ग बतावे वह विश्वसनीय कैसे हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा। वरन् उसके बताये मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति बम्बई के स्थान पर अन्य कहीं भी पहुँच सकता है। अतः सच्चा मार्ग खोजने वाले को वह मार्ग समझने के लिये, उस मार्ग के मर्मज्ञ ऐसे ज्ञानी पुरुष की खोज करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। मार्ग प्राप्त करने की आतुरता के आवेश में, बिना परीक्षा करे सत्समागम के स्थान पर असत्समागम प्राप्त हो जाने पर, संभव है कि गलत मार्ग को यथार्थ मार्ग मानकर, मार्ग भ्रष्ट होकर, अपना जीवन ही निरर्थक समाप्त हो जावे। इसकी बहुत भारी जिम्मेदारी आत्मार्थी की है। ऐसा समझते हुए ज्ञानी पुरुष को ढूँढकर, यथार्थ मार्ग प्राप्त करना सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी पुरुष का उपदेश ही यथार्थ मार्ग

बतलाने वाला होता है और उसके द्वारा प्राप्त उपदेश ही वास्तव में देशनालब्धि का प्रारंभ है।

ज्ञानी उपदेशक को कैसे जाने?

नियम यह है कि अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को पहिचानना हो तो सर्वप्रथम उसका निर्दोष लक्षण जानना चाहिए। लक्षण अर्थात् चिन्ह। लक्षण उसको कहा जाता है, "जिस वस्तु को पहिचानना हो, उस वस्तु में तो वह लक्षण मिले ही, लेकिन अन्य वस्तु में नहीं मिले, तथा वस्तु में वह लक्षण अवश्य बना रहे," ऐसा लक्षण ही निर्दोष लक्षण कहा जाता है। [redacted] उस चिन्ह के द्वारा ही वह वस्तु पहचानी जा सकती है।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम हमको, ज्ञानी का लक्षण समझना चाहिए।

प्रश्न :— ज्ञानी तो आत्मा होता है और आत्मा अमूर्तिक है अत: उसकी पहिचान बाह्य लक्षणों से कैसे हो सकती है? क्योंकि पहिचानने का कार्य तो इन्द्रियज्ञान से होगा, उससे आत्मा कैसे पहिचाना जा सकेगा?

समाधान :— यह बात भी सत्य है कि आत्मा अमूर्तिक है और अमूर्तिक का कार्य भी, अमूर्तिक ही हो सकता है। साथ ही अमूर्तिक को जानने का सामर्थ्य तो क्षायकज्ञान में ही है। इन्द्रियज्ञान के द्वारा आत्मा को वैसा नहीं पहिचाना जा सकता ?

समाधान :— वास्तविक स्थित इसप्रकार है कि, अमूर्तिक आत्मा तो ज्ञानी पुरुष के ज्ञान में भी कभी ज्ञेय नहीं बनता, वरन् उसको भी आत्मानन्द के स्वाद की अनुभूति अर्थात् वेदन होता है। वह वेदन सम्यग्दृष्टि को निर्विकल्प दशा होने पर ही होता है। उस वेदन का स्वाद ज्ञानी को अपने ज्ञान में ज्ञात होता है। ऐसे आनंद की अनुभूति ज्ञानी

पुरुष को ही होती है, ऐसी व्याप्ति होने से ज्ञानी को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष वर्तता है; ऐसा जिनवाणी में कहा गया है तथा अनुभव काल में स्वरूप ज्ञात हुआ, वह ही मेरी आत्मा का यथार्थस्वरूप है, अत: मैं ज्ञानी हो गया, इसप्रकार उसका ज्ञान श्रद्धान भी नि:शंक हो जाता है। अत: उसका उपदेश ही सत्यार्थ आत्मस्वरूप को बता सकता है।

ज्ञानी उपदेशक को पहिचानने के लिये बाह्य लक्षण क्या?

हमारे पास तो इन्द्रिय ज्ञान है और हमको ही ज्ञानी को पहिचानना है। अत: हमको तो ऐसा लक्षण चाहिए जिसमें हम ज्ञानी को पहिचान सकें ? ऐसा प्रश्न आत्मार्थी को उठना स्वाभाविक है, क्योंकि जो ज्ञानी की परिणति में पवित्रता हुई है, उसका अनुभव एवं वेदन तो उस ज्ञानी को हुआ है। वह हमारे ज्ञान का विषय तो हो ही नहीं सकता। अत: ज्ञानी हो जाने पर बाह्य लक्षण ऐसे कौनसे प्रगट हो जाते हैं, जिनके द्वारा ज्ञानी पहिचाना जा सके?

उत्तर :— जिनवाणी में ऐसे बाह्य लक्षण बताये गये हैं। वे हैं, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। लेकिन उन लक्षणों को जिनवाणी में व्यवहार लक्षण बताया है। क्योंकि इसप्रकार के लक्षण किसी-किसी अज्ञानी में भी वैराग्यमय प्रसंग उपस्थित होने पर कभी-कभी दिखने लगते हैं। लेकिन वे स्वाभाविक नहीं होने से स्थाई नहीं रहते। अत: इन लक्षणों द्वारा पहिचानने वाले आत्मार्थी का ज्ञान भी, यह पहिचान करने के लिए सक्षम होना चाहिए।

प्रश्न :— ऐसे भ्रामक लक्षणों को लक्षण ही क्यों बताया? ये तो निर्दोष लक्षण नहीं कहे जा सकते।

उत्तर :— ऐसा नहीं है। ज्ञानी की अपेक्षा तो ये लक्षण निर्दोष ही हैं। फिर भी इन लक्षणों को निश्चय अर्थात् वास्तविक लक्षण नहीं

बताकर व्यवहार लक्षण कहा है।

यहाँ पर निश्चय लक्षण और व्यवहार लक्षणों का अन्तर और कारण समझना भी आवश्यक प्रतीत होता है; वह इस प्रकार है।

निश्चय लक्षण तो आत्मा में प्रगट होता है और व्यवहार लक्षण, मन-वचन-काय के योगों में अर्थात् जो आत्मा से भिन्न ऐसे पर हैं, उनसे प्रगट होता है; यह मूलभूत अंतर है। निश्चय लक्षण तो आत्माश्रित है और व्यवहार लक्षण तो पर द्रव्याश्रित है। अतः दोनों लक्षण भिन्न द्रव्यों के परिणमन होने से दोनों ही यथार्थ कैसे हो सकेगे। लेकिन दोनों का आपस में सहज स्वाभाविक निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। उपरोक्त विषय में विशेष जानना हो तो स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा संख्या ३११ से ३२९ तक का अध्ययन करके जानें।

इसमें विशेषता यह है कि संसारी के आत्माश्रित उत्पन्न हुए निश्चय कार्य का तो व्यवहार के साथ निमित-नैमितिक संबंध अविनाभावी रूप से होगा ही होगा। ऐसा नहीं है कि निश्चय कार्य अकेला हो जावे और उस समय व्यवहार कार्य हो ही नहीं; अवश्यमेव होगा ही। लेकिन व्यवहार कार्य के साथ ऐसा नहीं है, क्योंकि व्यवहार परद्रव्याश्रित है। जैसे कि आत्मा की, पर्याय में जब क्रोध उत्पन्न होता है तो उसी समय भावक्रोध के अनुकूल ही द्रव्यकर्मों का उदय होता है, और उसी समय क्रोध उत्पन्न होने का कारण ऐसी कोई घटना भी "नोकर्म" के रूप में अवश्य होती है। इन तीनों स्थितियों का काल तो एक ही है, और कोई भी इनको जुटाने वाला भी नहीं होता। फिर भी जब-जब कोई भी नैमितिक कार्य होगा, उपरोक्त तीनों ही स्थितियाँ, बिना कोई प्रयास के हुए बिना रहती ही नहीं है। इन्हीं सब कारणों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि जब-जब भी कोई कार्य सम्पन्न होगा सहज रूप से उपरोक्त सारी परिस्थितियाँ होती ही हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जब आत्मा को आत्मानुभूति के द्वारा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है अर्थात् मिथ्यात्व के और अनन्तानुबंधी अभावात्मक, संवर एवं निर्जरा रूपी निश्चय पवित्रता उत्पन्न होती हैं, उसी समय साथ ही मन-वचन-काय की आंतरिक एवं बाह्य दोनों क्रियाओं में भी आंशिक शुद्धता अवश्य होने ही लगती है। ऐसी ही निश्चय-व्यवहार की मैत्री अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक संबंध रूपी सुमेल है।

लेकिन व्यवहार क्रिया के साथ इसप्रकार का सुमेल नहीं है। जैसे नोकर्म रूपी बाहर का कोई प्रसंग क्रोध की उत्पत्ति के अनुकूल दिखने वाला बना हो, लेकिन उस प्रसंग के समय वह व्यक्ति क्रोध नहीं करे तो क्रोध होता हुआ नहीं देखा जाता। इसीप्रकार क्रोधरूपी द्रव्यकर्म का उदयकाल आ गया हो लेकिन उस समय उस व्यक्ति का उपयोग स्वाध्याय करने में अथवा अन्य किसी कार्य में उपयुक्त हो तो, उन द्रव्यकर्म रूपी वर्गणाओं की तो आत्मा के साथ रहने की स्थिति पूरी होजाने से वे प्रकृतियाँ तो अपनी स्थिति बढ़ा नहीं सकती, अतः वे आत्मा में फल दिये बिना ही व्यय हो जाती हैं। अतः नोकर्म की उपस्थिति के अनुसार ही द्रव्यकर्मों के उदय भी आत्मा को क्रोध उत्पन्न कराने में समर्थ नहीं हो सके। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट समझ में आ सकता है कि व्यवहार क्रियाओं के साथ, निश्चय क्रिया का अविनाभावी संबंध नहीं होता।

इसका शास्त्रीय प्रमाण भी है। आत्मानुभूति के साथ ही, अनंतानुबंधी कषाय का अभाव नियम से होगा ही होगा। जब अनंतानुबंधी का अभाव होता है तो उसी समय व्यक्त पर्याय में भी तदनुकूल चरणानुयोग द्वारा प्रतिपादित मन-वचन-काय की क्रियाओं में भी परिवर्तन अवश्य होगा ही ऐसा आगमकथित नियम है।

उपरोक्त सभी आगम प्रमाणों एवं युक्तियों एवं अनुमान से सिद्ध होता है कि निश्चय पवित्रता के साथ-साथ ही मन-वचन-काय की

क्रियाओं में भी परिवर्तन अवश्यमेव होता ही होता है।

इन सभी कारणों से सिद्ध होता है कि मन-वचन-काय की इन्द्रिय ज्ञानगम्य क्रियाओं द्वारा भी ज्ञानी आत्मा के ज्ञानी होने का अनुमान द्वारा निर्णय हो सकता है, लेकिन पहिचान करने वाले आत्मार्थी को पहिचान करने योग्य यथार्थ समझ होनी आवश्यक है।

आत्मार्थी की समझ की यथार्थता को कैसे पहिचानें?

पहिचान करने वाला आत्मार्थी स्वयं इस योग्यता वाला हो, जिसको मोक्षमार्ग प्राप्त करने की यथार्थ प्यास जगी हो और उसने आगम के अभ्यास द्वारा देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप समझा हो। सच्चे देव अर्थात् अरहंत परमेष्ठी एवं सिद्ध परमेष्ठी भगवान मात्र ही यथार्थ आराध्य देव हैं। उनका विस्तार के साथ स्वरूप इसलिए समझा हो कि मुझे भी अर्थात् मेरी आत्मा को भी सिद्ध परमेष्ठी ही बनना है, मात्र यह ही मेरा लक्ष्य है एवं ध्येय है; इसीलिये वे मेरे आराध्य हैं। इस ही उद्देश्य से उनके स्वरूप को बहुत गंभीरता एवं रुचि के द्वारा, आगम को आधार बनाकर समझें। यथार्थ समझ के द्वारा इतनी स्पष्टता एवं दृढ़ता तो श्रद्धा में आ ही जानी चाहिए कि सिद्ध भगवान पूर्ण वीतरागी हैं एवं सर्वज्ञ हैं, सबको जानते हुए भी परम वीतरागी बने रहते हैं। पं. दौलतरामजी ने एक स्तुति के मंगलाचरण में कहा भी है कि :—

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरज रहस विहीन॥

इस आधार से दृढ़ निश्चय एवं विश्वास जाग्रत हो जावे। तत्पश्चात् इसके साथ सहज ही विश्वास जाग्रत हो जावेगा की मुझे सिद्ध भगवान बनने का मार्ग बतलाने वाली तो एक मात्र जिनवाणी ही है। अत: उसके प्रति श्रद्धा एवं रुचि तथा भक्ति सहज ही उछले बिना रह ही

नहीं सकती। इसीप्रकार जो इस मार्ग में अर्थात् सिद्ध भगवान बनने के मार्ग में आगे बढ चुके हैं, जिसके अंतर व बाह्य जीवन में वीतरागता प्रकाशित हो रही हो। जिनके आत्मा के सामर्थ्य में इतनी क्षमता प्रगट हो गई हो, कि ज्ञान में ज्ञेय कैसे भी ज्ञात होते हुए स्वयं वीतरागी बने रहते हों। ऐसे आचार्य, उपाध्याय एवं साधुपरमेष्ठी ही एकमात्र मेरी श्रद्धा के पात्र होने से पूज्य एवं श्रद्धेय हैं। साधुपरमेष्ठी की अन्तर की वीतराग परिणति एवं बाह्य मन, वचन और काय की परिणति किसप्रकार की होती है, इसका विस्तार से वर्णन चरणानुयोग ग्रंथों से जानना चाहिए तथा संक्षेप से जानने के लिए लेखक की "णमोलोएसव्वसाहूणं" नामक पुस्तिका से जाना जा सकता है।

इसप्रकार आत्मार्थी की बुद्धि-क्षमता इतनी परिपक्व हो जाती है कि वह ज्ञानी आत्मा की यथार्थता को पहिचान सकता है। कारण उसके मन संबंधित विचारों की अभिव्यक्ति वचनों द्वारा प्रकाशित हुए बिना नहीं रहती।

प्रश्न :— वर्तमान काल में यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का समागम तो अत्यंत दुर्लभ है। अत: उनकी अनुपस्थिति में गृहस्थ अवस्था युक्त ज्ञानी को कैसे पहिचाना जावे?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ज्ञानी होता है। वह दशा चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर, क्रमश: बढ़ती हुई आत्मशुद्धि अर्थात् वीतरागता का, जिनवाणी में ग्यारह प्रतिमाओं के माध्यम से कथन किया गया है। जिसका विस्तार से वर्णन चरणानुयोग के ग्रंथों में निबद्ध है। संक्षेप में जानना हो तो लेखक की छोटी सी पुस्तिका "पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ" के नाम से पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, से प्रकाशित हो चुकी है, उससे ज्ञात किया जा सकता है। इतना ही संक्षेप से समझ लेना चाहिए कि, सम्यज्ञानी पुरुष की जैसे-जैसे आत्मानुभव की

स्थिरता बढ़ती जाती है, तदनुसर प्रतिमाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। तदनुसार ही मन-वचन-काय की परिणति में भी उत्तरोत्तर वैराग्य, संसार-देह-भोगों के प्रति विरक्ति अंतरंग से उपेक्षावृत्ति बढ़ती जाती है और तदनुसार ही वचन शुद्धि अर्थात् वीतराग भाव एवं मार्ग में दृढ़ता, निःशंकता बढ़ती जाने से, जो वचन निकलते हैं वे भी अन्तर की भावना के अनुसार ही निकलते हैं तथा विकल्प भी तदनुसार ही होते हैं। इसलिये ज्ञानी की वाणी से ही ज्ञानी आत्मा की पहिचान बहुत सुगमतापूर्वक हो सकती है। क्योंकि वचन अंतरंग भावों के द्योतक होते हैं। इसीप्रकार बाह्य क्रियाओं में भी साथ ही साथ प्रतिमाओं की वृद्धि के अनुसार सहज स्वाभाविक परिवर्तन होता जाता है। जिसका वर्णन चरणानुयोग ग्रंथों में विस्तार से चर्चित है। लेकिन परीक्षक की स्वयं की योग्यता परीक्षा करने योग्य होनी चाहिए। ऐसे आत्मार्थी को ज्ञानी की परीक्षा करना अत्यंत सुगम है।

इसप्रकार उपदेशक के ज्ञानी-अज्ञानी होने की पहिचान भी की जा सकती है।

देशना का केन्द्रबिन्दु क्या हो ?

प्रश्न :— देशना का महत्व, उसकी दुर्लभता तथा स्वयं की पात्रता आदि सुनकर उपदेश की महिमा तो समझ में आई। लेकिन लोक में एक मिट्टी की हांडी को भी खरीदते समय उसको ठोक बजाकर पूरी तरह से परीक्षा करके ही खरीदी जाती है, तो फिर जिस उपदेश से अनादि संसार का अभाव होना है, ऐसे अमूल्य मार्ग को ग्रहण करने के लिए तो अति तीक्ष्ण दृष्टि से परीक्षा करके ही उसे ग्रहण करना चाहिए। अतः इस कथन से देशनालब्धि का महत्व तो समझ में आता है। लेकिन देशना के द्वारा जो मार्ग समझना है, उसका केन्द्रबिन्दु क्या होना चाहिए ? यह भी स्पष्ट होना चाहिए।

उत्तर :— वास्तव में आत्मार्थी को समझने का केन्द्रबिन्दु स्पष्ट हुए बिना, देशना का लाभ ही कैसे होगा ? कारण उपदेश में तो अनेक विषय, अनेक प्रकरण अनेक अपेक्षाओं से सभी तरह के आते हैं। द्वादशांग में क्या नहीं आवेगा, सभी कुछ आता भी है और आना भी चाहिए। इस विषय में पूर्व प्रकरणों में विस्तार से चर्चा की जा चुकी है; फिर भी संक्षेप में यहाँ बताया गया है। आत्मार्थी को तो प्रयोजनभूत का भी केन्द्रबिंदु स्पष्ट ज्ञात हुए बिना, अगर अप्रयोजनभूत विषयों के समझने के चक्कर में फंस गया तो, जीवन तो समाप्त हो जावेगा और प्रयोजनभूत समझने से वंचित रह जावेगा। अतः केन्द्रबिंदु स्पष्ट होना तो देशनालब्धि से भी विशेष महत्वपूर्ण है। जैसे हीरा रत्न को प्राप्त करने के लिए, सर्वप्रथम तो हीरे की खान को पहिचानना होगा फिर उसमें से निकली मिट्टी-जिसको खरड़ के नाम से बोला जाता है, उस खरड़ में भी जो हीरे को पहिचान लेगा, वह ही उस खरड़ में से हीरे को प्राप्त कर सकेगा। इसीप्रकार आत्मार्थी को भी देशना का केन्द्र बिंदु स्पष्ट समझ में आना ही चाहिए।

आत्मार्थी का केन्द्रबिन्दु तो मात्र एक ही होना चाहिये, कि मुझे तो सिद्ध भगवान बनना है। सिद्ध भगवान जगत के सभी पदार्थों को जानते हुए भी किंचित् मात्र भी रागी अथवा द्वेषी नहीं होते, इस ही कारण वे परम वीतरागी हैं। इसलिये ध्येय तो आत्मार्थी का सिद्ध बनने का ही होता है। अतः उसको तो देशनालब्धि द्वारा सिद्ध भगवान बनने का मार्ग समझना ही मात्र प्रयोजनभूत है। अतः एकमात्र वही मार्ग समझने का केन्द्रबिन्दु रहता है। सिद्ध भगवान के समान सकल ज्ञेयों का ज्ञायक मैं भी हूँ, लेकिन मैं उन ज्ञेयों को ही हितकारी मानकर राग करने लग जाता हूँ एवं अहितकारी मानकर द्वेष करने लग जाता हूँ। अतः मुझे तो समस्त उपदेश में से, मात्र वह मार्ग ही समझना है, कि जिससे मेरा आत्मा भी

इन ज्ञेयों को जानते हुए भी, उनके प्रति राग अथवा द्वेष नहीं करें, और वीतरागी बना रह सके। वह मार्ग समझने का आत्मार्थी के सामने एकमात्र केन्द्रबिन्दु बना रहता है। आचार्यश्री ने भी सभी शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता को ही कहा है। सिद्ध भगवान बनने का मार्ग वही तो होगा, जो उस जाति का हो अर्थात् हम छद्मस्थ संसारी जीव अल्पज्ञ तो रहेंगे ही, लेकिन वीतरागी नहीं रहकर रागी द्वेषी हो जाते हैं। इसलिये हमको तो मात्र एक ही मार्ग समझना है कि हम अल्पज्ञ होते हुए रागी-द्वेषी कैसे नहीं होने पावें। इस ही ध्येय के आधार पर अपने प्रयोजनभूत केन्द्रबिन्दु को मुख्य रखते हुए देशना में से भी अपने प्रयोजन की सिद्धी कर लेता है।

इसप्रकार आत्मार्थी का तो एक ही ध्येय होता है कि सिद्ध बनने के उपायों को बताने वाले कथनों को तो ग्रहण कर लेना बाकी अन्य कथनों में अपनी बुद्धि को विशेष नहीं उलझने देना।

देशनालब्धि का निर्णय

देशनालब्धि का संक्षिप्त सार यही है कि इसमें अपने आत्मा का स्वरूप आगम अथवा ज्ञानी के उपदेश के आधार से एकदम स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। विकल्पात्मक भूमिका में, उपयोग समझने के समय परलक्षी होते हुए भी इतना स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूति में और देशनालब्धि के विकल्पात्मक निर्णय में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अंतर रह जाता है। जो आत्मा का स्वरूप विकल्पात्मक भूमिका के निर्णय में आया था, वही ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाता है अर्थात् दोनों में अंतर नहीं रहता। फलतः वह अपने स्वरूप के ज्ञान में अत्यंत निःशंक हो जाता है। उसका ज्ञान एवं श्रद्धा दोनों सम्यक् हो जाने से, वह निःशंक होकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

इसप्रकार देशनालब्धि की भूमिका में अपने आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय हो जाना सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का महत्वपूर्ण उपाय है। अतः सिद्ध बनने का यथार्थ मार्ग का निर्णय कर लेना ही संक्षेप में देशनालब्धि का सार है।

देशनालब्धि की मर्यादा एवं चरम दशा

अनादिकाल से जिस आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से भी अपरिचित था, उस आत्मा को प्राप्त करने की रुचि तो क्षयोपशम एवं विशुद्धलब्धि के काल में ही प्रगट हो जाती है । लेकिन उसे स्वरूप की अजानकारी एवं उसके प्राप्त करने के मार्ग की भी अजानकारी होने से उस रुचि का ही अभाव हो जाता है। अतः विशुद्धलब्धि द्वारा प्राप्त अवसर को अमूल्य अवसर मानकर उसकी पूर्ति करने का जो प्रयास अर्थात् पुरुषार्थ है, उस ही को देशनालब्धि कहते हैं। देशनालब्धि के काल में जीव उस आत्मा के स्वरूप को, जिसको जानने की रुचि एवं जिज्ञासा खड़ी हुई है, उसका स्वरूप समझने का एवं उसको प्राप्त करने के उपायों को भी समझने की चेष्टा करता है। इसकी पूर्ति के लिये रुचिपूर्वक, अपने प्रयोजन को मुख्य रखकर, अपने प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य आकर्षणों में नहीं अटकते हुए मात्र अपने आत्मा के स्वरूप को एवं उसके प्राप्त करने के मार्ग को समझने के लिए ही जिनवाणी का शरण लेकर वीतरागता उत्पादक शास्त्रों का अध्ययन करता है, सत्समागम करता है, साधर्मियों से चर्चा आदि करके किसी भी प्रकार से समझकर, अपने स्वयं के ज्ञान में, अनुमान द्वारा पक्का निर्णय करता है। उस निर्णय को अपने आदर्श ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप से मिलान करता है। अंत में जब तक सिद्ध भगवान की आत्मा के समान अपनी आत्मा का स्वरूप समझ में नहीं आवे तब तक निरंतर समझने का पुरुषार्थ करके सिद्ध भगवान के समान ही अपने आत्मा के स्वरूप को निर्णय में लेता है तथा उस दशा को प्राप्त करने का मार्ग

भी समझकर निर्णय कर लेता है। उस का मार्ग भी, उसा स्वभाव का पोषक होना चाहिए इस मापदंड के आधार पर उस मार्ग की भी समीचीनता को भी स्पष्ट रूप से समझ लेता है। निष्कर्ष यह है कि देशनालब्धि काल में ही निर्णय इतना स्पष्ट एवं यथार्थ हो जाता है कि आत्मार्थी को उस संबंध में कोई प्रकार की समझ में अस्पष्टता नहीं रहती। अत: वह आत्मस्वरूप के संबंध में तथा उसे प्राप्त करने के मार्ग के संबंध में नि:शंक हो जाता है। मात्र इतना ही कार्य शेष रह जाता है कि उपयोग में भी वही निर्णीत आत्मस्वरूप, प्रगट हो जावे। यहाँ तक देशनालब्धि की मर्यादा है और यही देशनालब्धि की चरम सीमा है। पू. श्रीकानजी स्वामी ने भी पं. टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर हुए प्रवचन अध्यात्म संदेश के पृ. ५४ पर कहा है कि — ५ "पहले विचार दशा में ज्ञान ने जिस स्वरूप को लक्ष्य में लिया था, उसी स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया, और बीच में से विकल्प निकल गया, अकेला ज्ञान रह गया तब अतीन्द्रिय अनुभूति हुई, परम आनन्द हुआ।"

देशनालब्धि एवं प्रायोग्यलब्धि में अंतर

देशनालब्धि एवं प्रायेग्यलब्धि के पुरुषार्थ में मूलभूत मुख्य अंतर तो यह है कि देशनालब्धि के पुरुषार्थ का प्रारंभ, परलक्ष्यी इन्द्रियज्ञान से ही होता है और अंतिम सीमा तक भी वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मता पूर्वक भी परलक्ष्यी इन्द्रिय ज्ञान ही बना रहता है। प्रायोग्यलब्धि में वही ज्ञान का उपयोग स्वलक्ष्य के ध्येय से ही प्रारम्भ होता है और परलक्ष्य को छोड़ते हुए स्वलक्ष्य की ओर अग्रसर होता हुआ बढ़ता जाता है। अंत में चरम सीमा पार करके अतीन्द्रियतापूर्वक करणलब्धि पार कर लेता है अर्थात् स्वलक्ष्यपूर्वक प्रारंभ होकर स्वलक्ष्य की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

इसलिये यह स्पष्ट है कि देशनालब्धि काल में आत्मा के स्वरूप को एवं उसे प्राप्त करने के मार्ग को मात्र समझा जा सकता है, प्राप्त नहीं

किया जा सकता। प्राप्त करने के लिए अर्थात् उपयोग में प्रगटता-प्राप्त करने के लिए तो प्रायोग्यलब्धि पूर्वक करणलब्धि पार करके ही, आत्मानुभव पूर्वक सिद्ध भगवान के आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का आंशिक स्वाद प्रगट किया जा सकता है। यह दशा प्राप्त होने पर ही, अपना आत्मा ज्ञायक होते हुए भी अकर्ता स्वभावी है, ऐसी श्रद्धा दृढ़तम हो जाती है और ऐसा ही आत्मा नि:शंक सम्यक्दृष्टि बन जाता है। वह शीघ्र ही सिद्ध भगवानों की टोली में मिल जाने वाला है, संसार का किनारा आ गया है, ऐसी उसको नि:शंक श्रद्धा हो जाती है और वह जीव अल्पकाल में ही सिद्ध गति को प्राप्त भी कर लेता है।

इसप्रकार देशनालब्धि के काल में ही अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावी आत्मा का यथार्थ निर्णय होकर, ज्ञायक भाव में अपनी विकल्पात्मक भूमिका में ऐसा दृढ़तम विश्वास जाग्रत हो जाना चाहिए कि मेरा अस्तित्व तो मात्र ज्ञायक अकर्ता स्वभावी ही है। साथ में होने वाले पर्यायगत अनेक ज्ञेय भावादि वे मैं नहीं, और मैं उनका नहीं, वे उनके हैं तो बने रहें, मेरे ज्ञान में ज्ञात भी हों तो पर ज्ञेय तरीके ही तो ज्ञात होते हैं अत: वे भी बने रहें लेकिन मैं तो उन सभी के प्रति अकर्ता स्वभावी हूँ। ऐसी दृढ़तम श्रद्धा विकल्पात्मक भूमिका में ही उत्पन्न हो जाने पर रुचि पर की ओर से व्यावृत्त रहने से, उपेक्षा स्वभावी बनी रहने से, आत्मा का उपयोग, अपने अकर्ता ज्ञायक स्वभावी आत्मा में घुस जाने को एकत्व कर लेने को उद्योत होता है वहीं से प्रायोग्यलब्धि का प्रारम्भ होता है।

निष्कर्ष यह है कि देशनालब्धि के काल में ही यथार्थ निर्णय करने का पुरुषार्थ होता है, ऐसे निर्णय करने में ही मेरे विवेक -बुद्धि का यथार्थ प्रयोग एवं यथार्थ मार्ग बताने वाले सच्चे उपदेश एवं उपदेशक को प्राप्त

करने में अपने विवेकपूर्वक प्राप्त करने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी, आत्मार्थी पर है, अतः बहुत सावधानी पूर्वक यथार्थ मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

भेदपूर्वक किये गये कथन मात्र अभेद को समझाने के लिये ही होते हैं

सुखी होने का उपाय पुस्तक के उपरोक्त पांचों भाग के कथन एकमात्र, अभेद-अखण्ड-त्रिकाली-ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी आत्मा को समझाने के लिये ही किये गये हैं, पर्यायगत अनेक प्रकार के भावों के तथा ज्ञेयों के कारण ज्ञान में ज्ञात होने वाली अनेकताओं एवं विश्व के अनन्तानन्त द्रव्यों की अनेकताओं के बीच में स्थित रहते हुए भी, वह त्रिकाली-ज्ञायक स्वभाव तो उन सबसे अछूता एवं भिन्न कैसे बना हुआ है। इन अनेकानेक स्वभावों के बीच रहते हुए भी अपना भिन्न अस्तित्व किसप्रकार टिकाये हुये विद्यमान रहता आया है, उस समस्त स्थिति को समझाने के लिये ही अभी तक का सब विवेचन हुआ है। इन भेद के कथनों द्वारा, सभी अनेकताओं में भिन्न बने रहने का स्वरूप तो समझा। लेकिन अभी उपयोग को एकाग्र करने के लिये अर्थात् प्रायोग्यलब्धि में पदार्पण करने के पूर्व उपयोग का विषय एक ही कैसे बनेगा, यह कला समझना शेष रह जाती है। सभी अनेकताओं तथा भेदों को पीकर जो अभेद-अखण्ड-ज्ञायक भाव बैठा है, वह कैसे है, यह कला अर्थात् इस अपूर्वता को समझे बिना, तथा उस अभेद-अखण्ड स्वरूपी भगवान को लक्ष्य बनाये बिना मेरा उपयोग किसमें एकाग्र होगा। अनेकताओं में उपयोग केन्द्रित होने पर तो, एकाग्रता के स्थान पर अनेकाग्रता हो जावेगी, वह तो विकल्प-रागादि की उत्पादनकर्ता रहेगी, अतः देशनालब्धि के अन्तर्गत ही, भेदों और अनेकताओं के रहते हुए भी अभेद-अखण्ड- एक

स्वभावी ज्ञायक तत्त्व के उपयोगात्मक अनुभव के पूर्व, हमारे निर्णय में स्पष्टता होनी चाहिये। अतः यह कथन समझना अनिवार्य है।

अभेद-अखण्ड-एक ज्ञायक स्वभावी आत्मा की अभेदता समझने की विधि

उपरोक्त विषय को भी इसी भाग में सम्मिलित कर पूरा विषय का ही इसमें समापन करने का संकल्प था। लेकिन वर्तमान यह भाग ही लगभग २४० पृष्ठ का हो गया और उपरोक्त विषय का भी समावेश करने से इसका आकार बहुत बढ़ जाता। पाठकगणों के शीघ्र प्रकाशन प्राप्त होने की आतुरता को देखते हुए तथा अपनी आयु की भी अनिश्चितता होने के कारण, जितना विषय तैयार हो चुका, उसे ही प्रकाशन करा देने के उद्देश्य से उपरोक्त विषय आगामी भाग में आयेगा, पाठकगण क्षमा करें।

इसप्रकार इस पांचवें भाग का समापन होता है। आगामी भाग में, प्रायोग्यलब्धि के पूर्व स[illegible]कल्पज्ञान की भूमिका के द्वारा ही, अपना ज्ञान-श्रद्धान जो अनेकताओं और भेदों में तथा ज्ञेयों आदि में फैला हुआ है, उसही ज्ञान-श्रद्धान को, भेद-ज्ञान के द्वारा, अभेद-अखण्ड-एक ज्ञायक भाव में समेटकर , ऐसे निर्णय पर पहुंचने का पुरुषार्थ करना, कि मेरा अस्तित्व तो अनादि अनन्त एक ज्ञायक भाव रूप ही है अतः मुझे तो मात्र उसही में मेरे पने की श्रद्धा अर्थात् अहमपना स्थापित कर एक मात्र वही जानने योग्य होने से उसी को जानने की रुचि एवं उसही में अपने उपयोग को लीन हो जाने की चेष्टा ही वास्तव में देशनालब्धि की पराकाष्ठा है। ऐसे तीव्रतम रुचिपूर्वक निर्णय को ही आत्मानुभव का मूल कारण बताया है। पूज्य श्री कानजीस्वामी ने अध्यात्म संदेश के पृष्ठ ५४ में कहा है कि "पहिले विचार दशा में ज्ञान ने जिस स्वरूप को लक्ष्य में लिया था उसी

स्वरूप में ज्ञान का उपयोग जुड़ गया और बीच में से विकल्प निकल गया अकेला ज्ञान रह गया तब निर्विकल्प अनुभूति हुई. परम आनन्द हुआ। "

इसी प्रक्रिया को पण्डित बनारसीदास जी ने नाटक समयसार के पृष्ठ ४० जीव द्वार के सवैया २० में इसप्रकार कहा है —

एक देखिए जानिए, रमि रहिए इक ठौर।
समल विमल न विचारिए, यहै सिद्धि नहीं और॥

इसप्रकार ऐसे महत्वपूर्ण विषय को आगामी भाग में प्रकाशित करने की चेष्टा की जायेगी। उपरोक्त विषय के माध्यम से पाठकगण अपनी रुचि को सब ओर से समेटकर, एकमात्र अपने त्रिकाली अकर्त्ता-अभोक्ता ज्ञायक स्वभावी आत्मा में सीमित कर सकेंगे तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा। इसी भावना के साथ कि यदि कोई भूल रह गई हो तो कृपया सुधार लेवें।

***